इस प्रकार अधिक और अधिक ध्यान करने से स्वप्नावस्था से समाधि में प्रवेश मिल जाता है। जाग्रतावस्था से सीधे समाधि में प्रवेश के लिए अधिक प्रयास तथा जागरुकता से साधना करनी होती है।

जो योगी कमतर क्षमता वाले होते हैं, वे मात्र गहरी नींद से ही समाधि में प्रवेश कर जाते हैं लेकिन सतत् प्रयास से वे कालान्तर में स्वप्नावस्था से तथा बाद में जाग्रतावस्था से भी समाधि में प्रवेश पाने लगते हैं। जब योगी जाग्रतावस्था से समाधि में प्रवेश पाने लगता है तब समाधि सर्वाधिक दृढ़ हो जाती है।

समाधि की अवस्था में अभिन्नता का ज्ञान जागरुकता की कमी से मद्धिम पड़ जाता है और इस ज्ञान की कमी से योगी पुनः भिन्नता के ज्ञान में पड़ जाता है। ध्यान की निरन्तरता से जब विचार सूक्ष्मतम हो जाते हैं तब तुम महसूस करते हो कि अब निद्रा में प्रवेश कर जाओगे। यहाँ अगर तुम जागरुकता बनाए नहीं रख पाते हो, तो सो जाओगे। लेकिन यदि विचारहीनता की स्थिति में जागरुकता बनाये रखते हो तो एक अंतराल में प्रवेश करते हो जो जाग्रतावस्था एवं स्वप्नावस्था की संधिस्थल पर होता है। यही तुर्यावस्था कहलाती है, अस्तित्व की वास्तविक अवस्था।

मालिनी विजयतंत्र में कहा गया है – ''शिव ने सर्वोच्च चेतना की स्थिति माँ पार्वती से तब तक छिपाए रखी जब तक शिव माँ पर अतीव प्रसन्न नहीं हो गए। तब उन्होंने माँ को सर्वोच्च चेतना में प्रवेश का मार्ग बताया।'' इसी प्रकार जब आपके गुरु आपसे पर्याप्त संतुष्ट एवम् प्रसन्न होंगे तब ही आपको सर्वोच्च चेतना में प्रवेश का मार्ग प्रशस्त होगा।

उच्च यौगिक शक्तियों को प्राप्त करने के पश्चात् उन शक्तियों के प्राप्त होने के आनन्द में योगी की सजगता कम हो जाती है। इससे उसकी सर्वोच्च चेतना में समावेश की दिशा में गति बाधित हो जाती है। शिव की क्रिया शक्ति उस योगी से दूर होकर उससे खेलती है और वह साधारण व्यक्ति की तरह निद्रा एवम् स्वप्न का अनुभव करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि योगी एक साधारण व्यक्ति के स्तर पर आ जाता है। अतः हर हाल में सजगता बनाए रखना निहायत जरूरी है।

मालिनी विजयतंत्र में उल्लेख है :– ''इन यौगिक शक्तियों से जुड़ो मत अपितु इनसे दूरी बनाये रखो।''

स्पन्दकारिका में भी उल्लेख है – ''जो योगी हर क्षण संसार की प्रत्येक क्रिया में स्पन्द के सार को देखने के प्रति सजग है वह जाग्रतावस्था से भी सीधे सर्वोच्च चेतना में प्रवेश पा जाता है।''

इस प्रकार ''चित्तं मंत्रः'' (योगी का मन ही मंत्र है) से आरम्भ कर यह शाक्तोपाय का वर्णन हुआ जो मंत्रवीर्य एवम् मुद्रावीर्य से परिपूर्ण है।

मंत्रवीर्य – जब योगी सर्वोच्च चेतना पर सजगता से ध्यान करता है तथा समस्त इन्द्रिय बहाव को भीतर की ओर मोड़ देता है तब उसे जो सर्वोच्च अहन्ता प्राप्त होती है उसे मंत्रवीर्य कहते हैं। मंत्रवीर्य की स्थिति मातृका (अ से क्ष तक) की शक्ति है क्योंकि सारी ध्वनियाँ इन अक्षरों से ही उदित होती हैं। यह

ध्वनि शब्दराशि (समस्त अक्षरों का सामूहिक प्रारूप) कहलाती है और उन भिन्न–भिन्न ध्वनियों का मूलस्रोत एक ही ध्वनि है जो अनाहत अथवा ध्वनिहीन ध्वनि है। सर्वोच्च चेतना की ध्वनि अहं और यही मंत्रवीर्य है। योगी का मंत्रवीर्य का अनुभव प्रमेयात्मक नहीं होता। अतः वह यह नहीं कहता है कि 'अहो!' यह मंत्रवीर्य है अपितु वह यह कहता है कि मैं मंत्रवीर्य हूँ। अतः **मालिनी विजयतंत्र** में उल्लेख है, ''शिव की स्वातंत्र्य शक्ति, शिव से अभिन्न है।''

स्वातंत्र्य शक्ति से ही (i) इच्छा शक्ति, (ii) ज्ञान शक्ति एवम् (iii) क्रिया शक्ति उत्पन्न होती है। इन्हीं शक्तियों से समस्त ब्रह्माण्ड की शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

इस प्रकार सर्वोच्च अहंता ''यह'' में स्थित है, ''मैं'' में स्थित है और ''वह'' में भी स्थित है। अतः सर्वाहन्ता ही ''मैं'' और ''तुम/यह'' और ''वे/वह'' में स्थित है।

यह अवश्य ध्यान रहे कि यह व्यक्तिगत ''मैं'' नहीं अपितु समूचे ब्रह्माण्ड का ''मैं'' है। और स्पष्ट समझना है तो – (I in I, I in You, I in He)

स्वातंत्र्य शक्ति एक महार्णव की तरह है जो चेतना का सागर है। इसी सागर से कई तरंगें निकलती हैं जैसे ध्वनि की तरंगें, स्पर्श की तरंगें, गंध की तरंगें इत्यादि और चेतना का सागर निरपेक्ष रूप से शुद्ध एवम् पारदर्शी होता है। इस चेतना के बहाव को कोई नहीं रोक सकता। इसकी गहराई असीम है, अनन्त है। जब योगी इस स्वातंत्र्य शक्ति पर चित्त को एकाग्र करता है तो वह मंत्रवीर्य को प्राप्त कर लेता है एवम् अनुभव करता है। यह अनुभव उसे मातृका एवम् मालिनी दोनों के क्षेत्र में प्राप्त होता है।

मातृका चक्र – सर्वोच्च अहंता की क्रमशः रचनात्मकता है।

मालिनी चक्र – अहंता का क्रमशः संहार है।

सर्वोच्च चेतना की क्रमशः रचनात्मकता ही 'अहम्' है अर्थात् मातृका। सर्वोच्च चेतना की संहारात्मक शक्ति ही 'महा' है अर्थात् मालिनी। **स्पन्द** में कहा गया है कि सर्वाहन्ता के एक ही मंत्र में सारे मंत्र रहते एवम् जीवन पाते हैं। **(स्पन्दकारिका 2:1)**

''शाक्तोपाय'' में भिन्नता के ज्ञान पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया जाता अपितु आपके स्वयं के मूल पर ध्यान किया जाता है। यहाँ मन्त्रजाप से ध्यान सफल नहीं होता वरन् सजगता से ही सम्पन्न होता है।

जो योगी उनकी सजगता क्षीण हो जाने से शुद्ध विद्या के स्तर से नीचे गिर जाते हैं वे सामान्य व्यक्ति के स्तर पर आकर स्वप्नावस्था में प्रवेश कर जाते हैं। इस तरह वे सब कुछ खो देते हैं। ऐसे योगियों के लिए 'आणवोपाय' का वर्णन किया जाता है ताकि समय के साथ वे सजगता सीख कर सुरक्षित रूप से ''शाक्तोपाय'' की अर्हता प्राप्त कर तदन्तर ''शांभवोपाय'' में प्रवेश की पात्रता प्राप्त करें।

।। आणवोपाय ।।

(तीसरा जागरण)

प्रथम जागरण में ''शांभवोपाय'' तथा द्वितीय चरण में ''शाक्तोपाय'' का वर्णन किया गया है। अब तीसरे जागरण में ''आणवोपाय'' की व्याख्या की जाएगी।

प्रथम जागरण के प्रथम सूत्र में तुम्हारी अपनी आत्मा की परिभाषा दी गई है। दूसरे जागरण के प्रथम सूत्र में क्षेमराज ने पुनः आत्मा का सत्य निरूपित किया है और तीसरे जागरण के प्रथम सूत्र में भी आत्मा के सत्य का ही निरूपण है लेकिन तीनों व्याख्याओं में अन्तर है।

प्रथम जागरण में सर्वोत्तम सत्य का सीधे–सीधे बखान कर दिया गया है। ''चैतन्यम्आत्मा'' के बारे में उन्होंने कहा है – ''स्वतंत्र पराचेतना आत्मा का सत्य है।''

दूसरे जागरण के प्रथम सूत्र में कहा गया है – ''चित्तम् मन्त्रः'' अर्थात् मन ही मन्त्र है। इसमें सूत्रकार थोड़े निचले स्तर पर आ गया है जब वह कहता है – 'मन पर विचारों के पड़े प्रभाव का अनुभव' आत्मा है बजाय यह कहने के कि 'अस्तित्व का सत्य' आत्मा है। यहाँ सूत्रकार 'मन के स्तर' की बात करता है। वह वास्तविक स्वरूप पर नहीं ठहरा है। लेकिन यहाँ मन इतना शुद्ध हो गया है कि मन्त्र का जीवन्त रूप हो जाता है और उन मन्त्रों का जीवन्त रूप 'अहम्' है जो सर्वोच्च प्रमातृता है।

इसी प्रकार तीसरे जागरण के प्रथम सूत्र में सूत्रकार पुनः आत्मा के स्वरूप का निरूपण करता है। इतना अवश्यहुआ कि यहाँ मन को मन की सीमित स्थिति के साथ ही स्वीकार कर आत्मा कहा गया है।

शिवसूत्र के तीसरे जागरण को 'आणवोपाय' कहा जाता है। यह एक सीमित व्यक्ति के लिए उपाय है। इसकी व्याख्या के अन्तर्गत सूत्रकार 'सीमित व्यक्ति' की व्याख्या करता है।

आत्मा चित्तम् ।। 1 ।।

जन्म और मृत्यु के चक्र में लिप्त मन ही 'व्यक्ति' है।

यहाँ व्यक्ति को मन के स्वरूप में परिवर्तित कर दिया गया है, किन्तु किस तरह का मन ? यह सर्वोच्च प्रमातृता का मंत्ररूप मन नहीं है। यह वह मन है जो सतत् इन्द्रियजन्य सुख से संतुष्ट होता है।

यह व्यक्ति तीन भीतरी मानसिक अंगों से अर्थात् अंतःकरण से जुड़ा होता है – मन, बुद्धि एवम् अहंकार। इन तीन अंगों का कार्य निम्नरूपेण वर्णित है –

बुद्धि से यह तय होता है कि 'क्या करना है', मन यह तय करता है कि 'कैसे करना है' । अब इस निर्णय को अहंकार से जोड़कर हम कहते हैं – 'यह कार्य मेरे द्वारा होना है'।''

उक्त तीनों अन्तःकरण के कार्य हैं। इस प्रकार संसार में उलझा 'मन' ही यहाँ 'आत्मा' कहा गया है। संस्कृत शब्द आत्मा से तात्पर्य व्यक्ति नहीं है। यह शब्द मूल रूप से 'अत' से बना है जिसका तात्पर्य है – 'सातत्य गमने' अर्थात् जो आता है और जाता है। जो लगातार गतिशील रहता है, जन्मता है, मरता है। जीवन–मरण के चक्र में जो सतत् गतिशील रहता है वही 'आत्मा' है और वह मन 'आत्मा' है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह जीवन–मरण के चक्र में गतिशील क्यों रहता है? यह तब होता है जब वह अपने स्वरूप के ज्ञान की लगातार उपेक्षा करता है और कई गर्भों से गुजरता है। उसे भिन्न–भिन्न तरह के विचार शुद्ध (सात्विक), क्रियाशील (राजसिक) अथवा प्रमादपूर्ण (तामसिक) प्राप्त होते हैं और जब मृत्यु के समय वह सात्विक स्थिति में होता है तब उच्चतर जीवन को प्राप्त होता है। इसी प्रकार जब वह राजसिक विचार की स्थिति में होता है तब ठाठ–बाट की भोग–विलासपूर्ण जिन्दगी को प्राप्त होता है लेकिन तामसिक चित्तवृत्ति के साथ शरीर त्यागने वाले सदैव जानवर, वृक्ष इत्यादि अल्पचेतनता का जीवन प्राप्त करते हैं।

यहाँ कही गई 'आत्मा' की यही प्रकृति है जो व्यक्ति का सार है और जिससे व्यक्ति बनता है। दूसरी ओर 'मन' जब सर्वोच्च चेतना से एकाकार हो जाता है तब इस तरह नहीं रहता क्योंकि तब वह अपने वास्तविक स्वरूप में प्रवेश कर जाता है। इसीलिए प्रथम जागरण का प्रथम सूत्र है ''चैतन्यम् आत्मा''। स्वतंत्र पराचेतना ही आत्मा का सत्य है। इसीलिए इस सूत्र में शब्द आत्मा (चैतन्यम् आत्मा) की व्याख्या इस तरह है कि कोई भी इसे पराचेतना से पृथक कुछ नहीं समझ सकता। परन्तु तीसरे जागरण के प्रथम सूत्र में आत्मा का विवरण एक निम्नतर जीव की तरह किया गया है। यही वैयक्तिकता की स्थिति है। यह स्थिति तब अस्तित्व में होती है जब परशिव या सर्वोच्च चेतना वैयक्तिकता की स्थिति में होती है। इस स्थिति को प्राप्त कर, सब ओर से सिकुड़ कर वह एक 'व्यक्ति' बन जाता है।

यहाँ यह कदापि नहीं सोचना चाहिए कि आत्मा को भिन्न–भिन्न तरह से बताया गया है। प्रथम जागरण में आत्मा का वर्णन जीव की उस स्थिति के लिए उचित है एवम् वर्तमान वर्णन जीव की व्यक्तिगत स्थिति के लिए ठीक है जब आत्मा को आने–जाने वाली कहा गया है।

अब हम समझेंगे कि इन्द्रियजन्य भोगों में लिप्त इस व्यक्ति का क्या होता है :–

ज्ञानं बन्धः ।। 2 ।।

इसी सीमित व्यक्ति के लिए सारा ज्ञान बंधन है। यहाँ इस सूत्र का तात्पर्य प्रथम जागरण के दूसरे सूत्र ''ज्ञानंबंधः'' से भिन्न है। प्रथम जागरण के दूसरे सूत्र को दो तरह से समझ सकते हैं – ''ज्ञानंबंधः'' तथा ''अज्ञानंबंधः'' अर्थात् भिन्नता का ज्ञान बन्धन है तथा अभिन्नता का अज्ञान बंधन है। लेकिन यहाँ जीव

की सीमित अवस्था में जो भी ज्ञान उसे प्राप्त होता है वह भिन्नता का ज्ञान ही होता है। यहाँ अभिन्नता के ज्ञान की कोई संभावना नहीं होती।

मन, बुद्धि और अहंकार के आधार पर यहाँ ज्ञान तीन प्रकार से कार्य करता है । अन्तःकरण के तीन अंग यह समझ लेते हैं कि क्या भोगना है? फिर उस समझ को स्थापित करते हैं और अन्त में उसे अहंकार से जोड़ देते हैं तब ये तीन मानसिक कार्य (सुख, दुःख एवम् मोह) एकाकार होते हैं। यहाँ सुख का संबंध जीवन की सात्विक स्थिति से होता है, दुःख का संबंध राजसिक स्थिति से होता है तथा मोह का संबंध जीवन की तामसिक स्थिति से होता है। जीवन की ये तीन स्थितियाँ इस सीमित ज्ञान से नियंत्रित होती हैं।

इसलिए इस तरह का ज्ञान मात्र भिन्नता का ज्ञान होता है, अभिन्नता का नहीं। जब वह इन तीन प्रकार के भिन्नता के ज्ञान से जुड़ा होता है तो जीवन–मरण के चक्र में कई तरह से घूमता रहता है और यही बंधन है।

तंत्र सद्भावशास्त्र में वर्णित है – ''कभी–कभी वह जीव के सत्वगुण की स्थिति में स्थित होता है, कभी रजोगुण (राजस गुण) में और कभी तामस गुण की स्थिति में स्थित होता है। संक्षेप में वह गुणों के बांध में ही रहता है और उसके पार नहीं जा पाता। इसीलिए वह पिछले जीवन से नाता तोड़कर पुनः नए जीवन से नाता जोड़ लेता है और जीवन–मरण के चक्र में पड़ा रहता है।''

स्पन्द में भी $1\frac{1}{2}$ श्लोक में यह उल्लेखित है –

''जब पांच तन्मात्राएं मानसिक वृत्ति के तीन अंगों – बुद्धि, मन एवम् अहंकार को उत्पन्न करती हैं तो कुल आठ अंग हो जाते हैं। ये आठ अंग मिलकर ''पुर्याष्टक'' कहलाते हैं। स्वप्नावस्था में ये आठों अंग ही काम करते हैं। ये आठों अंग तुम्हें तुम्हारे स्वरूप तक पहुंचने से रोकते हैं। जब स्वरूप की उपेक्षा होती है तब तुम उस इन्द्रिय सुख पर निर्भर करते हो जिसे त्याग नहीं पाते। यही कारण है कि तुम मात्र खिलौने बने रहते हो तथा जन्म–मृत्यु के चक्र में बन्धे रहते हो।'' **(स्पन्दकारिका 3:17.18)**

अब हम यह समझेंगे कि इस जन्म–मृत्यु के चक्र से मुक्ति कैसे हो ?

कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया ।। 3।।

इकतीस तत्वों के अभिन्नता के ज्ञान को प्राप्त करने की अक्षमता के कारण उन तत्वों में ही तुम जीते हो, जो कला से पृथ्वी तक के 31 तत्वों में भ्रमकारक शक्ति माया का ही विस्तार है।

शास्त्रों में यह स्थापित है कि ज्ञान अंधेरा (अज्ञान – अंधविश्वास–भय इत्यादि) दूर करने वाला होता है। यह कहा गया है कि आत्मा भी ज्ञान की तरह प्रकाशित करने वाली होती है। इसलिए कहा जाता है कि ज्ञान एवं आत्मा एक ही है।

विज्ञान भैरव में इसी बात को कुछ इस तरह समझाया गया है – ''ज्ञान, प्रबोध से भरा है तथा ज्ञाता भी प्रबोध (Enlightenment) से भरा है। इस तरह तुम ज्ञाता अथवा ज्ञान से पूरी तरह प्रबुद्ध हो सकते हो क्योंकि ज्ञान में ज्ञाता की स्थिति (निवास) है तथा ज्ञाता में ज्ञान का निवास है। ये अस्तित्व के दो नहीं अपितु एक ही पहलू है। वास्तव में ज्ञान तथा ज्ञाता एक ही है।'' **(विज्ञान भैरव 137)**

अतः कहा गया है – ''तुम पाओगे कि ज्ञान भी प्रबोध से भरा है। ज्ञान तुम्हें केवल प्रबुद्ध ही कर सकता है, प्रबोध से वंचित नहीं कर सकता। फिर इस सूत्र में ऐसा क्यों कहा गया है कि सभी ज्ञान बंधन हैं ?''

तब व्याख्याकार स्पष्ट करता है – ''यह सिद्धान्त कि ज्ञाता एवं ज्ञान एक ही है, एक शर्त के साथ ही स्वीकार्य है और वह शर्त यह है कि शिव कृपा से तुम जानते हो कि समस्त सृष्टि ज्ञान एवं ज्ञाता से ओतप्रोत है। ज्ञान एवं ज्ञाता एक ही हैं, तथा ''यह'' और ''मैं'' एक ही जीव हैं। यदि ऐसा जानते हो तब बन्धन नहीं है और यदि नहीं जानते हो तब बन्धन है।''

ये इकतीस तत्व माया से आरम्भ होकर पृथ्वी तक समाहित हैं तथा माया के अधीन भ्रम के साम्राज्य में अवस्थित हैं। इस प्रकार संसार का आरम्भ ''कला'' तत्व से होकर ''पृथ्वी'' तक है।

बोध के धरातल पर पांच तत्व हैं – शुद्ध विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति एवं शिव। ये पांचों तत्व अतिशुद्ध हैं। सृष्टि के निर्माण में सहायक इकतीस तत्व अशुद्ध एवं अज्ञानता से भरे हैं। जब तक तुम यह नहीं जानते हो कि सृष्टि में सब कुछ दिव्यता से भरा है, ज्ञाता एवं ज्ञान से भरा है तब तक तुम इकतीस तत्वों में जीते हो। यही नहीं इन इकतीस तत्वों के वास्तविक सत्य – अभिन्नता के ज्ञान से भी वंचित रहते हो। जब इन इकतीस तत्वों के सत्य से अनभिज्ञ रहते हैं तब ये तत्व माया के अधीन तथा अशुद्ध रहते हैं। लेकिन जैसे ही इनकी वास्तविक अभिन्नता का ज्ञान होता है और यह भी ज्ञान हो जाता है कि ज्ञाता में ज्ञान तथा ज्ञान में ज्ञाता का निवास है, ये इकतीस तत्व, पांच शुद्ध तत्वों से एक हो जाते हैं। तब यह ज्ञान भी हो जाता है कि सारे तत्व स्वातन्त्र्य शक्ति का ही विकास हैं।

जब तुम स्वरूप से नीचे गिरते हो तब सर्वप्रथम ''कला'' तत्व से संयोग होता है। ऐसा होते ही तुम कार्य की असीम क्षमता से दूर हो जाते हो। इस प्रकार तुम्हारे पास शेष रहती है सीमित कार्य क्षमता अथवा सीमित रचनात्मकता। माया के कंचुक तुम्हें हर तरह से सीमित कर देते हैं। अन्त में तुम स्थूलतम तत्व पृथ्वी में प्रवेश कर जाते हो।

इस प्रकार स्वरूप से नीचे आने पर पहले माया तथा उसके पांच कंचुक तुम्हें बांध देते हैं। तदंतर पुर्याष्टक (पांच तन्मात्रा + मन, बुद्धि, अहंकार), पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और अन्त में पांच महाभूत प्रभावी होते हैं।

जब तुम्हें यह ज्ञात हो कि ये सारे तत्व अलग–अलग हैं और तुम्हारे स्वरूप से भिन्न हैं तो तुम नीचे उतरे हुए हो। सत्य में ये तत्व परम सत्य या परशिव से एक हैं तथापि तुम सोचते हो ये भिन्नता से एक हैं। एक तरफ तुम यह सोचते हो कि परम सत्य, सृष्टि की भिन्नता से अलग है एवं तुम स्वयं को उस भिन्नता से एक मानते हो। तुम मानते हो कि शरीर से तुम एकाकार हो और ईश्वर इससे अलग है। यदि ऐसे विचार हैं तो तुम निश्चित ही नीचे उतरे हुए हो।

जब तुम जानते हो कि सारे शरीर मेरे ही शरीर तथा सारे शरीर विश्व शरीर हैं एवं तुम्हारा ज्ञान ''मैं शिव हूँ'' ऐसा है तब निश्चय ही तुम्हारा उत्थान हो चुका है और तुम्हारे लिए अज्ञान के संसार में पुनः डूबने की कोई संभावना नहीं है।

सारांश यह है कि जब तुम यह जानते हो कि तुम भिन्नता से एक हो तब तुम नीचे उतरे हुए हो और स्वरूप से दूर हो, यही माया है।

तन्त्रसद्भाव में उल्लेख है – तुम्हारे चैतन्य पर माया के पांच आवरणों का प्रभाव यह होता है कि तुम सीमित तरह से क्रिया करते हो, सीमित तरह से जानते हो, सीमित तरह से प्रेम करते हो, सीमित तरह से जीते हो और बहुत सीमित है जो तुम्हें अपना लगता है।

तुम्हारे कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों से इस सीमित तरह से जुड़े रह कर आध्यात्म की राह पर चलने की प्रेरणा भी सीमित ही होती है और इस राह पर (जो सीमित है) तुम्हारा जुड़ाव इतना गहरा होता है कि यदि किसी उच्च स्तरीय आत्मा से तुम्हारी मुलाकात हो जाए और वह तुम्हें सच्ची राह दिखाए तब भी तुम उसे स्वीकार नहीं करोगे। इस तरह तुम्हारे भ्रम के संसार में जहां तुम असुरक्षा एवं भय से भरे होते हो ये सीमितताएं ही बंधन हैं। इस तरह सीमित ज्ञान के दायरे में बिना सत्य ज्ञान के तुम पाप, पुण्य, सही, गलत करते हो और इस बंधन से तुम चौपाए की तरह बंधे होते हो।

स्पन्द शास्त्रमें कहा गया है – जो लोग चैतन्य के प्रति सजग हैं उनके लिए उनकी ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां तथा अन्तःकरण ही उनकी चेतना को सर्वोच्च चेतना तक उत्थान का कारण बन जाते हैं। लेकिन जो चैतन्य के प्रति सजग नहीं हैं उनके लिए ये ही इन्द्रियां चेतना के उत्थान में बाधक बन जाती हैं।

(स्पन्दकारिका 1:20)

इस प्रकार ये इन्द्रियां दो प्रकार से कार्य करती है – जो सजग हैं उनके लिए उत्थान का अन्यथा बन्धन का कारण बन जाती हैं। अतः इस बन्धन (सीमितता) को कम करने के लिए –

शरीरे संहारः कलानाम् ।। 4।।

कहने का तात्पर्य यह है कि तुम्हारे शरीर में स्थित चक्रों (कलाओं) को एक से दूसरे में तथा स्थूल से सूक्ष्म की ओर विलय करना चाहिए।

पृथ्वी से आरम्भ होकर शिव तक पांच चक्र हैं। स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा में बड़े चक्र को छोटे चक्र में विलय करना होता है। ऐसा करने हेतु तुम्हें परिणाम को कारण में मिला देना चाहिए अर्थात् उस कारण को पुनः उसके कारण में और उस कारण को उसके कारण में विलय करना चाहिए। अन्त में मात्र शिव का अस्तित्व सब जगह प्रकट हो जाता है। उस समय तुम शिव के दर्शक नहीं अपितु शिव से एकाकार हो जाते हो। यहां प्रमाता एवं प्रमेय एक हो जाते हैं।

छत्तीस तत्वों की सीमा पांच चक्रों (कलाओं) से बनती है। ये पांच चक्र निम्न रूपेण हैं –

1. निवृत्ति कला (स्थूलतम तत्व जो पृथ्वी में स्थित है)
2. प्रतिष्ठा कला (जल से लेकर प्रकृति तक, प्रकृति सहित 23 तत्वों से युक्त हो गई है)
3. विद्या कला :– पुरूष तथा षट्कंचुक – (माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति) अर्थात् 7 तत्वों से युक्त होता है)
4. शान्ता कला (शुद्ध प्रमातृ में पायी जाती है जो शुद्ध विद्या से शक्ति तक है)
5. शान्तातीता कला (यहॉ मात्र शिवतत्व है)

तुम्हें उक्त पांचों चक्रों को एक से दूसरे में...... दूसरे को तीसरे में और अन्त में शान्तातीता चक्र (कला) में विलीन करना है यह तुम्हें तुम्हारे शरीर में ही करना है जो तीन अवस्थाओं – जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति का बना है।

अतः इस सीमितता को कम करने के लिए तुम्हें स्थूल से सूक्ष्म तक जाना चाहिए।

निवृत्ति कला को प्रतिष्ठा कला में,

प्रतिष्ठा कला को विद्या कला में

विद्या कला को शान्ता कला में

तथा शान्ता कला को शान्तातीता कला में प्रविष्ट करना चाहिए। ऐसा करने के लिए एकाग्र चित्त ध्यान करते हुए चक्रों का विलय करते चले जाएं। ऐसा अभ्यास करने से तुम माया की पकड़ को ढीला एवं भिन्नता के ज्ञान से नियंत्रित कर सकते हो।

पुर्याष्टक = पंचतन्मात्रा + अन्तःकरण (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध + मन, बुद्धि, अहंकार)

समनान्तम् = समना के स्तर तक

यह वह स्थिति है जब मन पूरी तरह समाप्त हो जाता है, सिवाय मन पर पड़ी छापों (impressions) के (जिस प्रकार जल जाने के बाद भी राख में आकार बना रहता है)। शरीर के तीन स्तर हैं :–

स्थूल शरीर पंच महाभूत से बना है।
लघु शरीर पुर्याष्टक है।
सूक्ष्म शरीर – सीमित चेतना हैं ।

इन तीनों का अस्तित्व समनान्तम् के स्तर तक ही होता है। स्थूल को लघु में तथा लघु को सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट कराना होता है।

उदाहरणार्थ – अपने मन में स्थिर होकर विचार करें कि यह स्थूल संसार तुम्हारे मन की ही रचना है। जब तुम मन में स्थित होते हो तो स्वप्नावस्था में होते हो। यद्यपि तुम जाग रहे हो तथापि स्वप्नावस्था में होते हो। अब इस स्वप्नावस्था को स्वप्नविहीन अवस्था में प्रविष्ट कर दो। स्वप्नविहीन अवस्था में तुम विचारशून्य एवं एकाग्र हो जाते हो और समाधि के अनुभव के बहुत निकट पहुंच जाते हो।

इस तरह प्रयास से तुम भ्रमकारक शक्ति माया को समाप्त कर सकते हो।

एक अन्य तरह के ध्यान में तुम कल्पना करते हो कि तुम्हारा शरीर अग्नि में जलकर भस्म हो गया है। यहां तुम्हें पहले यह ध्यान करना होगा कि यह शरीर पूरी सृष्टि में व्याप रहा है – कालाग्नि रूद्र से लेकर शान्तातीता कला तक। अब तुम अपने बायें पैर के अंगूठे पर ध्यान केन्द्रित करते हो साथ ही कल्पना करते हो कि बाएं पैर के अंगूठे में स्थित कालाग्नि रूद्र से अग्नि की लपटें निकल रही हैं तथा ऊपर उठते हुए शरीर को भस्म करती जा रही हैं। शरीर का कुछ भी हिस्सा शेष नहीं रहता है। मात्र राख का ढेर होता जा रहा है। इस प्रकार भी सफलतापूर्वक ध्यान किया जा सकता है।

ये दोनों तरह के ध्यान विज्ञान भैरव में दो श्लोकों में वर्णित हैं –

तुम्हें ध्यान करना चाहिए कि सृष्टि का स्थूलतम चक्र (आयाम) ''भुवनध्वा'' अपने से सूक्ष्मतर आयाम 'तत्वध्वा' में प्रवेश कर जाता है जो स्वयं सूक्ष्मतम आयाम 'कलाध्वा' में प्रवेश कर जाता है और अन्त में जब मन विलीन हो जाता है तब तुम ईश्वर से एकाकार हो जाते हो। **(विज्ञान भैरव – 56)**

सर्वप्रथम आता है स्थूलतम चक्र अर्थात् भुवनध्वा। इससे सूक्ष्म आयाम या चक्र है तत्वध्वा तथा सूक्ष्मतम आयाम है कलाध्वा। यहां यह जानना आवश्यक है कि 'भुवनध्वा' 118 संसारों में, 'तत्वध्वा' 36 तत्वों में एवं 'कलाध्वा' 5 चक्रों में व्याप्त है।

इस तरह के ध्यान को लय–चिन्तना अथवा लय–भावना कहते हैं क्योंकि इसमें स्थूल चक्र की भावना पहले करते हैं जिसे सूक्ष्म चक्र में विलीन कर देते हैं तदंतर सूक्ष्म को परा अर्थात् सूक्ष्मतम चक्र में विलीन कर देते हैं।

इस तरह के ध्यान सभी शिवतंत्रों में मिलते हैं। मालिनी विजयतंत्र में ध्यान एवं कल्पना के साधन आणवोपाय में मिलते हैं। आणवोपाय निम्नतर स्तर से आरम्भ होता है। यही कारण है कि स्पन्दशास्त्रों में ये साधन वर्णित नहीं है क्योंकि स्पन्दशास्त्र शाक्तोपाय एवं शांभवोपाय का ही वर्णन करते हैं, आणवोपाय का नहीं।

नाड़ीसंहार – भूतजय – भूतकैवल्य – भूतपृथक्त्वानि ।। 5।।

नाड़ीसंहार अर्थात् श्वास की गतिशीलता को लय कर देना, भूतजय – पंचमहाभूतों को नियंत्रित कर लेना, भूतकैवल्य – समस्त प्रमेय संसार से ध्यान हटा कर ध्यान को श्वास क्रिया के केन्द्र में स्थित करना तथा भूतपृथक्त्वानि अर्थात् स्वचेतना को बन्धन मुक्त करना।

जैसा कि तुम जानते हो कि शिवसूत्र का तीसरा जागरण (आणवोपाय) निम्न स्तर का है। जब आणवोपाय का अध्ययन करते हुए आणवोपाय के अन्त पर पहुंचते हो तो शाक्तोपाय का स्पर्श महसूस करते हो और शाक्तोपाय की व्याख्या के अन्त में शाम्भवोपाय का अहसास होता है।

चूंकि स्पन्दशास्त्रमें आणवोपाय का वर्णन नहीं है। अतः आणवोपाय में स्पन्दशास्त्रके उद्धरण नहीं होना चाहिए। लेकिन शाक्तोपाय का उद्‌गम आणवोपाय के अन्त में ही हो जाता है अतः इस स्थल पर आणवोपाय में भी स्पन्दशास्त्रके उद्धरण मिल सकते हैं।

इस सूत्र में व्यक्त ध्यान पूर्णतः आणवोपाय का है। इसमें ध्यान के अन्य तरीके जो आपस में जुड़े हैं – प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार तथा समाधि वर्णित हैं।

इस प्रकार **नाड़ी संहार** अर्थात् श्वास की गति को विलय कर देना। **भूतजय** अर्थात् पंचमहाभूतों को नियंत्रण में कर लेना तब जो वेदना है वह योगी को भीतर से दुःखी नहीं करती। **भूतकैवल्य** अर्थात् समस्त विषयों से ध्यान हटाकर श्वासगति के केन्द्र में स्थिर कर देना। **भूतपृथक्त्वानि** का तात्पर्य है स्वचेतना को उसके प्राथमिक क्षेत्र से मुक्त कर लेना। उदाहरणार्थ शरीर में कहीं घोर पीड़ा है तो तुम अपनी चेतना को उस अंग से मुक्त कर लेते हो और पीड़ा समाप्त हो जाती है। ये शक्तियां योगियों को अनुभव होती हैं।

अब इसे विस्तार से समझते हैं। नाड़ी संहार उसे कहते हैं जब श्वास–प्रश्वास की गति को सुषुम्ना नाड़ी में विलीन कर देते हैं। ऐसा करने के लिए तुम्हें सर्वप्रथम श्वास–प्रश्वास की गति को जागरुकता से देखना होगा और इस जागरुकता के द्वारा श्वास गति को सुषुम्ना की ओर मोड़ देना है। इस क्रिया के बारे में **स्वच्छन्द तंत्र** कहता है –

अपनी दाहिनी नासारन्ध्र से वायु बाहर निकालो एवं बायीं नासारन्ध्र से भीतर खींचो। इससे सारी नाड़ियां शुद्ध हो जाती हैं तथा मोक्ष मार्ग भी शुद्ध हो जाता है।

प्राणायाम तीन तरह से होता है – श्वास को बाहर निकालना, श्वास भीतर लेना एवं श्वास भीतर रोकना। यह साधारण तथा स्थूल प्राणायाम है। इसी प्रकार तीन भीतरी असाधारण तरीके भी हैं – श्वास को नाभि से थोड़ा सा हटा लो (वास्तविक श्वास बाहर नहीं निकालना है) यह भीतरी प्रश्वास है। अब श्वास को पुनः नाभि के केन्द्र में सरका दो यह भीतरी श्वास है। ऐसा करते समय श्वास नाक से भीतर–बाहर नहीं

करते। ये तीनों (भीतरी श्वास, प्रश्वास एवं कुम्भक) स्थूल कुम्भक के दौरान होते हैं। यह भीतरी प्राणायाम नाभिकेन्द्र में होता है। **(स्वच्छन्द तंत्र 7–294–96)**

भूतजय का तात्पर्य है – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश पर पूर्ण नियंत्रण। यह चिन्तन मनन के द्वारा होता है।

स्वच्छन्द तंत्र में इसकी भी व्याख्या है – ''जब भी तुम शरीर में वायु को नियंत्रित करना चाहो तब मनन करते हुए अपना ध्यान बाएं पैर के अंगूठे पर केन्द्रित करो। जब तुम्हारे शरीर में ऊष्मा की कमी हो तब स्वयं की नाभि के केन्द्र में ध्यान स्थिर करो। जब शरीर में मांस की कमी हो तब धरती का मनन करते हुए ध्यान गले के मध्य उथले भाग में केन्द्रित करो। जब तुम्हें जल की कमी हो या बाढ़ से घिरे हो तब जल का चिन्तन करते हुए भीतरी जीभ (घण्टिका) पर ध्यान केन्द्रित करो। अपनी सारी इच्छित शक्तियों को पाने के लिए आकाश का मनन करते हुए अपने सिर का ध्यान करो।'' **(स्वच्छन्द तंत्र 7–299–300)**

''भूतेभ्यः कैवल्यम'' का तात्पर्य तत्वों से मुक्ति है। इसे कैसे हासिल किया जाए? प्रत्याहरणम् अर्थात् मन को इन्द्रियजन सुखों से हटाकर श्वास के केन्द्र में एकाग्र करना चाहिए।

स्वच्छन्द तंत्र में कहा गया है – ''तुम अपनी चेतना को नाभि–केन्द्र में स्थिर करो तथा अपना मन भी उसी नाभि केन्द्र की तरफ एकाग्र करो और इन्द्रियों से दूर कर दो। प्राणायाम – ऐसे स्थिर रहने का शान्त तरीका है।'' **(स्वच्छन्द तंत्र 7–297)**

इस प्राणायाम में श्वास लेना या निकालना नहीं है। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है हृदय से पूर्ण एकाग्रता के साथ तुम्हें अपनी चेतना को नाभि केन्द्र की ओर मोड़ना है और उसी समय अपना मन नाभि में एकाग्र करना है जो मन अन्यथा सतत् विषयों में रमता रहता है।

''भूत पृथक्त्वानि'' का तात्पर्य इतना ही है कि तुम्हारी जागरुकता स्थूल तत्वों से अलग कर दो। यह कैसे किया जाए ? यह तब होता है जब किसी की चेतना महाभूतों से प्रभावित नहीं होती। यह बात स्वच्छन्द तन्त्र में इस तरह कही गई है –

''जब तुम पंच महाभूतों के प्रभाव को शान्त कर देते हो और इसे ''समाना'' के आगे 'उन्मना'' के स्तर तक कर देते हो तब तुम शिव से एक हो जाते हो। **(स्वच्छन्द तंत्र 7–327)**

वर्तमान सूत्र नाड़ी संहार – ''भूतजय, भूतकैवल्य भूतपृथक्त्वानि'' जैसा ही एक सूत्र शांभवोपाय (प्रथम जागरण) का बीसवां सूत्र है तो फिर एक जैसा सूत्र यहां पुनः क्यों दिया गया ?

एक अन्तर है। शांभवोपाय के साधक को शक्तियां स्वतः ही प्राप्त हो जाती हैं बिना प्रयास के जबकि आणवोपाय के साधक को प्रयास द्वारा ही प्राप्त होती हैं।

निम्न उल्लेखित यौगिक क्रियाओं द्वारा योगी को वे शक्तियां प्राप्त होती हैं जिनसे महाभूतों को विजय किया जा सके –

1. देह शुद्धि – शरीर की शुचिता
2. भूतशुद्धि – पंच महाभूतों की शुद्धि
3. प्राणायाम – श्वास की शुद्धि
4. प्रत्याहार – विषयों से हटाकर स्वचेतना में एकाग्रता
5. धारणा – किसी एक धारणा पर एकाग्रता
6. ध्यान
7. समाधि

इस तरह से प्राप्त शक्ति अस्थाई होती है और योगी अभी माया से आच्छादित होता है। ये शक्तियां सर्वोच्च चेतना की ओर नहीं ले जातीं। यदि योगी आत्मस्वरूप को जानता है तो वह इन शक्तियों की कोई परवाह नहीं करेगा।

इसे ही अगले सूत्र में समझाया गया है।

मोहावरणात् सिद्धिः ।। 6।।

ये सिद्धियां तब अस्तित्व में आती हैं जब योगी की चेतना माया से ढंकी होती हैं। ''माया'' वह है जो तुम्हारी चेतना को परम सत्य से दूर ले जाती है। माया भ्रम उत्पन्न करने वाली शक्ति है। माया के कारण जब तुम पिछले सूत्र में वर्णित शक्तियां प्राप्त करते हो, एक आवरण अस्तित्व में आ जाता है। सत्य यह है कि इन शक्तियों से शिव चेतना / सर्वोच्च चेतना प्रकट नहीं होती।

लक्ष्मी कुलार्णव तंत्र में यह कहा गया है – ''जो स्वयंभू है और स्वयं की स्वतंत्र इच्छा से प्रकट है, जो जन्म–मृत्यु के चक्र से मुक्त है, जो सर्वोच्च स्थिति है, समस्त विकल्पों से परे शाश्वत खजाना है जिससे सब कुछ निकलता है वह केवल शिव है और कुछ नहीं। सभी सीमित जीवों की क्रियाओं को वह देखता है। जो इन सीमित यौगिक शक्तियों की ओर उन्मुख है वह शिवचेतना से दूर हो जाता है और शिव के अनुभव से वंचित रह जाता है।'' **(लक्ष्मी कुलार्णव तंत्र)**

दूसरी ओर जिस योगी के माया के आवरण का नाश हो चुका है और वह आसन–ध्यान–धारणा–समाधि का अभ्यास करता है तो वह इन सीमित यौगिक शक्तियों की गिरफ्त में नहीं आता। ऐसे योगी के लिए ये यौगिक क्रियाएं विशिष्ट होती हैं। यह एक असाधारण अनुभव है जो सामान्यजनों को नहीं होता।

प्रथमतः वह आसन की असाधारण व्याख्या करता है। सामान्यतः आसन का मतलब किसी विशिष्ट मुद्रा में बैठना है। जैसे गुरु आरम्भ में बताता है कि पद्मासन अथवा स्वास्तिक आसन में बैठो, आगे मत झुको, सीधे तन कर बैठो और शिष्य भी वैसा ही करता है। लेकिन उच्च कोटि के योगी के लिए :–

''यह योगी अपनी चेतना को श्वास एवं निःश्वास के बीच ले जाता है और श्वास लेने एवं निकालने की क्रिया के ठीक मध्य में स्थिर कर देता है। अब चेतना को इस केन्द्र में स्थिर कर अपनी सारी सजगता की ऊर्जा, क्षणभर भी विचलित हुए बिना, इसी केन्द्र में स्थिर कर देता है। जब वह ऐसा करता है तो यही **वास्तविक आसन** है। '' **(लक्ष्मी कुलार्णव तंत्र 8:12)**

आसन के पश्चात् यह उच्चकोटि का योगी **प्राणायाम** का अभ्यास करता है जो उसके लिए विशिष्ट है।

पहले यह योगी स्वयं की श्वास भीतर लेने एवं बाहर निकालने की क्रिया का निरीक्षण करता है। कुछ समय पश्चात् (कुछ मिनटों बाद या कुछ घण्टों बाद या कुछ दिनों बाद या कुछ महीनों बाद या कुछ वर्षों बाद.....) श्वास क्रिया पर सतत् सजगता स्थिर करने से उसकी श्वास (प्राण) सूक्ष्म वृत्ति की होती चली जाती है। इतनी सूक्ष्म कि वह स्वयं भी नहीं जान पाता कि वह कब श्वास ले रहा है और कब श्वास छोड़ रहा है। सूक्ष्मवृत्ति के पश्चात् सूक्ष्मातीता की स्थिति आती है तब उसे घबराहट होती है कि वह चेतना को अब जागरुकता से पकड़े नही ंरख पाएगा लेकिन वास्तविकता में जागरुकता की सततता के कारण ऐसा होता नहीं। यहां इस योगी को भीतरी स्पन्दन का अनुभव होता है। इस स्पन्दन से उसकी जागरुकता और भी पूर्ण हो जाती है।'' **(लक्ष्मी कुलार्णव तंत्र 8:13)**

''जब वह ऐसा उच्च प्राणायाम कर रहा होता है, उसके मस्तिष्क में उसे प्रबल दिव्य नाद सुनाई देता है। एक बार जब यह प्राणायाम सम्पन्न हो जाता है तब यह योगी चेतना के सत्य से नीचे नहीं गिरता।'' **(लक्ष्मी कुलार्णव तंत्र 8:14)**

अब **प्रत्याहार** की स्थिति है। सामान्य योगी के लिए प्रत्याहार का मतलब है – अपनी चेतना को इन्द्रियों से हटाकर 'स्व' की तरफ मोड़ना। लेकिन इस उच्च स्तरीय योगी के लिए प्रत्याहार कुछ और ही है।

इस स्तर पर योगी को डर लगता है कि वह कहीं पुनः सांसारिक चेतना के स्तर पर न गिर जाए। यहां उसे पूरे हृदय से जागरुकता बनाए रखना होती है। दिव्य नाद पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है। आवाजें जो उसके मस्तिष्क में चाहे अच्छी हों, बुरी हों, डरावनी हों या क्रोध से भरी हों किसी पर भी ध्यान नहीं देना है। जब वह जागरुकता बनाए रखता है तो चेतना के सर्वोच्च स्तर पर पहुंच जाता है। यही प्रत्याहार है। यह प्रत्याहार अज्ञान के बंधनों को तोड़कर टुकड़े–टुकड़े कर देता है।

(लक्ष्मी कुलार्णव तंत्र 8:15)

अगला अभ्यास ध्यान का है। ऐसे उच्च स्तरीय योगी के लिए ध्यान क्या है ?

जब ये समस्त आवाजें शान्त हो जाती हैं और योगी इनके अनुभव से गुजर चुका होता है तब वह आनन्दोत्कर्ष की अवर्णनीय स्थिति का अनुभव करता है जो वह स्वयं ही जानता है। यही ध्यान है।

(लक्ष्मी कुलार्णव तंत्र 8:16)

ऐसी योगी के लिए फिर **धारणा** क्या है?

जब यह योगी शिवचेतना को सतत सम्हाले रहता है, लगातार एवं बिना अवरोध के तो यही धारणा है। **(लक्ष्मी कुलार्णव तंत्र 8:17)**

इस योगी के लिए **समाधि** क्या है ?

जब यह योगी सर्वोच्च चेतना का अनुभव भीतरी स्थिति में नहीं वरन् सांसारिक अनुभवों में भी बनाए रखता है तो यह वास्तविक समाधि है। **(लक्ष्मी कुलार्णव तंत्र 8:18)**

नेत्र तंत्र में भी कहा गया है कि ध्यान, धारणा, समाधि तुम्हें शिवचेतना की ओर ले जाते हैं। अतः नेत्रतंत्र में व्याख्यायित धारणा तुम्हें शिवचेतना की ओर ले जाती है, लेकिन जो धारणा यौगिक शक्तियां प्राप्त करवाती हैं, तुम्हें भटका देंगी।

मोहजयादनन्ताभोगात् सहजविद्याजयः ।। 7।।

माया पर विजय पाने के बाद मन पर पड़े माया के अनगिनत प्रभावों को नष्ट करने से योगी सहज ही चेतना के शुद्ध ज्ञान को पा लेता है।

जब तक माया के मन पर पड़े मद्धिम से प्रभाव तक का नाश नहीं होता, माया से छुटकारा नहीं मिल पाता। तब तक यह मोह (भ्रम) मिटता नहीं। जब इन सारे छोटे से छोटे प्रभावों को जीतकर नष्ट कर दिया जाता है तब वह शुद्ध ज्ञान को सहज पा लेता है।

मोह क्या है? (What is illusion)

मोह पूर्णतः भिन्नता के ज्ञान में स्थित सृष्टि है जिसमें अनुभव एवं मन पर प्रभाव पूरी तरह से भरे हैं। जब इस पर विजय प्राप्त कर ली जाती है तब अध्यात्म के क्षेत्र में वह विजेता होता है। लेकिन यह तभी होता है जब संस्कार लेशामात्र भी नहीं बचता (जब तक लेशमात्र भी शेष रहता है माया योगी को पुनः अपने अधिकार में ले लेती है)। इस विजय से ही शुद्ध ज्ञान का उदय होता है। तब दिव्य पहलुओं का अनावरण होता है तथा शिवचेतना की प्राप्ति होती है। विजेता होने के नाते तुम शुद्ध ज्ञान को पाते हो तथा सुरक्षित रखते हो।

यहां यह निष्कर्ष निकलता है कि आणवोपाय से साधक शाक्तोपाय में प्रवेश कर उसे (शाक्तोपाय को) पूरा कर शांभवोपाय में प्रवेश पाने की पात्रता हासिल कर सकता है। अतः योगी पहले आणवोपाय की साधना पूरी करता है तब शाक्तोपाय में प्रवेश पाता है। शाक्तोपाय को पूरा कर ही शांभवोपाय में प्रवेश पाता है।

स्वच्छन्द तंत्र में कहा गया है कि – ''हे देवी 'समना'' (यह वह स्थिति है जब मन पूरी तरह से नष्ट हो गया हो सिवाय उसके संस्कारों के। जैसे रस्सी के जल जाने के बाद भी उसके आकार की छाप बनी रहती है) के स्तर तक बन्धनों का समूह असीम है।''

जब तुम शिवचेतना का अनुभव करते हो तब इसे दो तरह से अनुभव करते हो (1) स्वचेतना में प्रवेश पाना तथा वहां स्थिर रहना अर्थात् आत्मव्याप्तिः, (2) सर्वोच्च चेतना में प्रवेश पाना अर्थात् शिवव्याप्तिः।

आत्मव्याप्ति भी बंधन है। आत्मव्याप्ति को पार करना जरूरी है क्योंकि मात्र आत्मव्याप्ति से शिवव्याप्ति (जो सत्य की सर्वोच्च सीमा है) नहीं पाई जा सकती है।

स्वच्छन्द तंत्र में उल्लेख है कि – ''भिन्नता का ज्ञान ही बंधन है। वस्तुओं – प्रमेयों को ईश्वर चेतना से अलग जानना ही भिन्नता का ज्ञान है। यहां तुम सोचते हो कि ईश्वर चेतना शुद्ध है तथा सांसारिक जीवन में प्रयुक्त चेतना अशुद्ध यह विचार ही ''पाश'' अथवा ''बंधन'' है। यह पाश त्याज्य है। तुम्हें अपना मन शुद्ध ईश्वर चेतना पर लगाना चाहिए। जब तुम पाश का अनुभव समाप्त कर देते हो तथा मन को ईश्वर चेतना की ओर मोड़ देते हो साथ ही स्वयं को अनुभव करते हो। इसी को ईश्वर चेतना में प्रवेश अर्थात् आत्मव्याप्ति कहते हैं।

शिवचेतना में प्रवेश शिवव्याप्ति से अलग तथा उच्चकोटि की है। यहां तुम्हें वही अनुभव होता है जो परमशिव को अनुभव होता है अर्थात् इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु या अन्तरिक्ष पूर्ण ज्ञान, पूर्ण क्रिया एवं पूर्ण इच्छा से भरे हैं। यही शिवव्याप्ति है। यही एकमात्र राह है जो चैतन्य धाम को जाती है, जो परम स्वातंत्र्य की स्थिति है। **(स्वच्छन्द तंत्र 5:434:35)**

इस प्रकार यह शास्त्र हमें सावधान करता है कि आत्मव्याप्ति भी भ्रम है। इसे जीतना बहुत जरूरी है। जब आत्मव्याप्ति के पार जाते हैं तब शुद्ध ज्ञान पाने की पात्रता आ जाती है। और जो मन के परे (उन्मना) है। यही शिवव्याप्ति है।

स्वच्छन्द तंत्र में कहा गया है – ''जब तुम पाश को हटाकर स्वयं की चेतना को 'स्व' में स्थित कर देते हो (स्वचेतना ही ईश्वर चेतना है) तब ईश्वर चेतना को भी त्यागना जरूरी है और तब तुम्हें तुम्हारी चेतना शुद्ध ज्ञान में स्थित कर देना चाहिए। मन भिन्नता के ज्ञान यानि संकल्पों का पिटारा है। अतः शुद्ध ज्ञान की स्थिति तभी होती है जब मन का अस्तित्व ही नहीं रह जाता अर्थात् उन्मना।

(स्वच्छन्द तंत्र 5:393)

अतः जब तुम संकल्पों का अतिक्रमण कर जाते हो, जैसे अच्छा–बुरा, शुद्ध–अशुद्ध। इनके पार जाकर जब गहन विचार करते हो तो पाते हो कि तुम्हारी स्वचेतना और ईश्वर चेतना में कोई फर्क नहीं है। शिवचेतना या सर्वोच्च चेतना को पाना ही सर्वोच्च ज्ञान है। इससे बढ़कर कोई विद्या नहीं है।

(स्वच्छन्द तंत्र 5:394)

ईश्वर चेतना वही है जो व्यष्टि चेतना है जिसमें हम रह रहे हैं। हमारा जीवन व्यष्टि चेतना से भरा है। योगी का जीवन ईश्वर चेतना से भरा है और सर्वोच्च योगी का जीवन सार्वभौमिक शिवचेतना से भरा है।

व्यष्टि चेतना – मन की स्थिति (त्याज्य)

ईश्वर चेतना – आत्मा की स्थिति (त्याज्य)

सार्वभौमिक शिवचेतना – मन से परे की स्थिति (उन्मना) सर्वोच्च ज्ञान

अब ज्ञान (विद्या) को परिभाषित करते हैं। विद्या के तीन पहलू हैं –

1. जानना (वेदन)
2. उसमें चेतना का प्रवेश (बोधना)
3. अनात्म का तिरस्कार (वर्जन)

वेदन – जब शिव के बाह्य पहलुओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है (बाह्य पहलू हैं – सार्वभौमिक ज्ञान, सार्वभौमिक इच्छा, सार्वभौमिक क्रिया)। **बोधना** – तदन्तर सर्वोच्च चेतना के ज्ञान को भी पा लिया जाता है, **वर्जन** – साथ ही सार्वभौमिक शिवचेतना को नकारने की क्रिया का परित्याग कर सार्वभौमिक शिवचेतना को भी पा लिया जाता है तो सचमुच यही वास्तविकता है, सत्य है और इसी को 'ज्ञान'' (विद्या) कहते हैं। तुम्हें स्वयं को यहीं पर स्थापित करना चाहिए तब सार्वभौमिक चेतना का सर्वोच्च प्रकाश, जिसके लिए तुमने आत्मबोध प्राप्त किया है, प्रकट हो जाता है। **(स्वच्छन्द तंत्र 5:395:96)**

ऐसे योगी के लिए जिसने ऐसी शुद्ध विद्या – जो सार्वभौमिक शिवचेतना का ज्ञान है – प्राप्त कर ली है।

जाग्रत् द्वितीयकरः ।। 8 ।।

ऐसी योगी की जाग्रतावस्था उसके चैतन्य स्वरूप का दूसरा रूप (form) है । जाग्रतावस्था उस योगी के लिए कुछ और नहीं वरन् उसका चैतन्य स्वरूप ही है। यह उसकी सार्वभौमिक चेतना की एक और कृति है। ऐसे ही उसकी स्वप्नावस्था एवं निद्रावस्था भी उसकी सार्वभौमिक चेतना के रूप हैं।

जाग्रतावस्था उसके अस्तित्व की एक किरण है। उसके 'स्व' का विकास है, उसकी चेतना का रूप है। ऐसी ही अवस्था स्वप्नावस्था है। ऐसी ही निद्रावस्था है। ये अवस्थाएं कहीं बाहर से आयी हुई नहीं हैं अपितु उसकी सार्वभौमिक चेतना के रूप हैं।

वह पाता है कि सार्वभौमिक चेतना की दिव्यता जो सर्वाहन्ता की स्थिति में वह अनुभव करता है, जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति में समान रूप से अस्तित्व में है।

इस शुद्ध ज्ञान को पाकर योगी सर्वोच्च ज्ञान को व्याप्त हो जाता है तथा उस ज्ञान से एक हो जाता है। वह अपनी सार्वभौम चेतना के प्रति सतत् जागरुक रहता है। ऐसे योगी के लिए जाग्रतावस्था उसके अस्तित्व का दूसरा रूप है। यह योगी इस स्थिति को कहां खोजे ?

जाग्रत की यह स्थिति ''अहम्'' (I consciousness) में नहीं मिलती। यह इदम् (Thisness) इदन्ता में मिलती है क्योंकि इदन्ता सार्वभौम ईश्वर चेतना में विलीन हो जाती है।

इस तरह इस योगी के लिए यह प्रमेय संसार – पूरी सृष्टि – उसके अस्तित्व की एक और किरण है, सार्वभौम चेतना का एक और रूप है।

ईश्वरीय चेतना में इदन्ता विलीन नहीं होती। इसमें मात्र अहन्ता विलीन होती है।

उस योगी को अहसास होता है कि जाग्रतावस्था उसकी सार्वभौम चेतना की एक किरण मात्र है। यह सृष्टि उससे बिल्कुल भी अलग नहीं है। यह उसी का विकास है। यह सृष्टि उसीके अस्तित्व की एक चिनगारी है।

विज्ञान भैरव तंत्र में कहा गया है – ''सार्वभौम ईश्वर चेतना का अनुभव हर जैविक क्रिया (अक्षमार्ग) जैसे छूना, सुनना, देखना, चखना, सूंघना में होता है। अतः जब सार्वभौम चेतना सदा ही उपस्थित है तथा वही सार्वभौम चेतना योगी का भी मुख्य पहलू है। वहीं सार्वभौम ईश्वरीय चेतना सब जगह उपस्थित है – कण–कण में व्याप्त है। यह चेतना कभी अनुपस्थित नहीं होती क्योंकि ''अनुपस्थिति'' में भी यह उपस्थित है।''

(विज्ञान भैरव तंत्र 117)

यही सूत्र का अर्थ है। जो कुछ भी सृष्टि में है, सार्वभौम चेतना में ही है। कुछ भी अलग या हटाने लायक नहीं है क्योंकि तुम्हारी चेतना से अलग कुछ है ही नहीं। जब सार्वभौम ईश्वर चेतना योगी का मुख्य पहलू है तो उसकी चेतना से पूरी सृष्टि भरी है। यह चेतना कभी अनुपस्थित नहीं होती क्योंकि अभाव में भी यह उपस्थित है। अगर कहें कि यह कहीं अनुपस्थित है तो इस अनुपस्थिति का अस्तित्व भी तभी होगा जब यह अनुपस्थिति सार्वभौम ईश्वर चेतना से भरी होगी। यह स्पष्ट है कि इस समस्त का अस्तित्व सर्वोच्च चेतना से है चाहे वस्तु हो या भाव हो, कल्पना हो या साक्षात्, संभव हो या असंभव, बीता हो या आने वाला, उपस्थित हो या अनुपस्थित ये सब सर्वोच्च सार्वभौम चेतना की किरणें हैं। कोई भी अस्तित्व सर्वोच्च चेतना के बिना नहीं है क्योंकि सार्वभौम चेतना अस्तित्व का ही नाम है। चाहे अनुपस्थिति का अस्तित्व हो या कल्पना का, हर अस्तित्व सार्वभौम ईश्वर चेतना ही है। ऋणात्मकता अथवा नकारात्मकता का अस्तित्व भी सार्वभौम ईश्वर चेतना से है और ऋणात्मक संख्याओं का अस्तित्व भी उसी चेतना से है। अस्तित्व से अलग कुछ भी नहीं किया जा सकता।

लेकिन ईश्वर चेतना में ऐसा नहीं है क्योंकि यहां नकारात्मकता को स्वीकार किया जाता है तथा उसका तिस्कार किया जाता है। जैसे मैं शरीर नहीं हूं, मैं मन नहीं हूं, मैं बुद्धि नहीं हूं। मैं चेतना रूप हूं जो इस शरीर में रह रहा हूं। संसार तथा शरीर का दृष्टा मात्र हूं। यह ईश्वर चेतना है लेकिन सार्वभौम ईश्वर चेतना में चेतना से अलग कुछ नहीं। बस चेतना का विकास ही सृष्टि है। यहां सकारात्मक या नकारात्मक, विधायक या काल्पनिक सब कुछ सार्वभौम ईश्वर चेतना में समाहित है। तुम उसे जानते हो तो भी सार्वभौम चेतना वहां है, नहीं जानते हो तो भी है, क्योंकि ''न जानना'' भी सार्वभौम चेतना के बिना अस्तित्व में नहीं रह सकता। इसी तरह आस्था अथवा नास्तिकता भी सार्वभौम चेतना में ही समाहित है।

सर्वमंगल शास्त्रमें कथन है – ''इस सृष्टि में केवल दो पहलू मिलते हैं। शक्ति तथा शक्ति–पति (Energy & Energy Holder)। इनमें से शक्ति समस्त सृष्टि में व्याप्त है क्योंकि सच में सृष्टि तो मात्र शक्ति ही है और शक्तिमान महेश्वर है।''

सृष्टि अपने में सब कुछ समाहित कर लेती है। तुम जो महसूस करते हो, जो सुनते हो, जो दैनन्दिन जीवन में अनुभव करते हो, यह शक्ति का ही अस्तित्व है और शक्ति को धारण करने वाला शक्ति मान ''महेश्वर'' या 'परशिव' है।

अतः कुछ भी खोता नहीं है क्योंकि तुम जब कुछ खोते हो तो अनुभव करते हो कि कुछ कम हुआ है। लेकिन यह 'कमी' की चेतना भी सार्वभौम ईश्वर चेतना में ही अनुभव होती है।

चेतना की कमी भी सार्वभौम चेतना से ही अस्तित्व में है और यह कमी यदि जागरुकता का हिस्सा है तो यह सार्वभौम चेतना के कार्य को बेहतर करती है। दिन–ब–दिन यदि आपकी चेतना में कमी आ रही है और आप इसके प्रति जागरुक हो तो आपने कुछ नहीं खोया।

उदाहरणार्थ – जब एक पागल यह जानता है कि वह पागल है तो वह पागल नहीं है। यदि इस तथ्य के प्रति जागरुक नहीं है कि वह पागल है तो वह सचमुच पागल है।

इसी प्रकार जब एक योगी जानता है कि उसकी चेतना कम हो गई है तो इस जागरुकता के कारण उसने कुछ नहीं खोया।

सत्य की प्रकृति जागरुकता है। जब जागरुकता को संभाले रखा है तब सब कुछ सुरक्षित है।

ऐसा योगी सदैव उसकी प्रकृति की चेतना में (In consciousness of his nature) रहता है।

नर्तक आत्मा ।। 9।।

सृष्टि के नृत्य में नर्तक उसकी अपनी सार्वभौम ईश्वरीय चेतना है।

यह सार्वभौम नृत्य क्या है? यह जीवन में अनुभव में आने वाली प्रत्येक चीज है। यह ''आना'' हो सकता है। यह ''जाना'' हो सकता है। यह जन्म, मृत्यु, खुशी, उदासी, अवसाद या मनोरंजन कुछ भी हो

सकता है। ये सब सार्वभौम नृत्य का हिस्सा है और यह नृत्य सिर्फ एक नाटक है। नाटक में कलाकार है तुम्हारी सार्वभौम चेतना। सार्वभौम चेतना जागरुक है, सजग है तथा कलाकार अथवा खिलाड़ी है लेकिन जो सजग नहीं है, खिलाड़ी नहीं है, इस खेल में मोहरे बन जाते हैं। कभी वे खुश होते हैं, कभी उदास, कभी अवसादग्रस्त तो कभी उत्साहित। जो जागरुक हैं, मोहरे नहीं बनते। वे ऊपरी स्तर पर होते हैं तथा वास्तविक खिलाड़ी होते हैं। अतः यह तुम्हारी सार्वभौम चेतना ही वास्तव में कलाकार, नर्तक अथवा खिलाड़ी है क्योंकि वही अभिनय करती है और अपना वास्तविक स्वरूप छिपा लेती है। जब कोई अपनी वास्तविकता छिपाकर कोई और किरदार जनता के सामने प्रस्तुत करता है तो यही अभिनय है।

उदाहरणार्थ – कोई डेनिस नामक लड़की कृष्ण का किरदार निभाती है तो अपनी वास्तविकता छिपा कर एक ओढ़ी हुई आभा सी ''वास्तविकता'' का भ्रम पैदा करती है। इन सारे भ्रम के बीच डेनिस यह जानती है कि वह कौन है ?

'परशिव' वास्तविक कलाकार है। यद्यपि परशिव का वास्तविक स्वरूप ''सार्वभौम चेतना'' जनता से छिपा रहता है तथापि वह स्वयं जानता है कि वह कौन है ?

सार्वभौम चेतना की सजगता से भरा हुआ वह कभी जाग्रत, कभी स्वप्न और कभी सुषुप्तावस्था में प्रकट होता है। यह उसका खेल है, वास्तविक क्रिया नहीं। उसकी वास्तविक क्रिया तो इन विभिन्न रूपों को प्रकट करते समय भी हर क्षण अपनी सार्वभौम चेतना में स्थित रहना है।

जब वह जाग्रतावस्था को प्रकट कर रहा होता है, तब वह स्वयं की सार्वभौम चेतना को जाग्रतावस्था की ओर प्रवाहित करने लगता है और ऐसा करते समय वह जानता है कि वह खेल कर रहा है। वास्तव में यह खेल ही है। वह उस ''अवस्था'' में परिवर्तित नहीं हो जाता। इसी तरह वह ''स्वप्नावस्था'' या स्वप्नहीन अवस्था का प्रदर्शन करते समय इन अवस्थाओं में परिवर्तित नहीं हो जाता। ये सारी अवस्थाएं सार्वभौम चेतना में ही है और वह पहले से ही इन अवस्थाओं में है।

देवी रचित तंत्र – ''नैष्वास देवी महेश्वर नर्तकाख्यै'' के सातवें अध्याय में यह उल्लेखित है कि – ''एक तरह से, हे देव महेश्वर (शिव) तुम अपने स्वयं मे ही स्थित हो तथापि तुमने स्वयं पर कई आवरण डाल रखे हैं। अपनी सार्वभौम चेतना को एक तरह से ढंकने पर जाग्रतावस्था और दूसरी तरह से ढंकने पर स्वप्नावस्था अथवा निद्रावस्था दिखाई देती है।''

इन आवरणों के कारण ही तुम्हारी सार्वभौम चेतना खोजे नहीं मिलती।

भट्ट नारायण ने अपने शास्त्र स्तवचिन्तामणि में कहा है –

''हे शिव, तुम अपने आप में स्थित हो जो सृष्टि का बीज है और उसी से सम्पूर्ण सृष्टि प्रकट हुई है। इसी बीज से तुम तीन संसारों का नाटक उत्पन्न करते हो। जागने का नाटक, स्वप्न का नाटक और निद्रा का नाटक। इन नाटकों का प्रादुर्भाव तुम इस बीज के अंकुरण से करते हो जो आपमें ही रहता है।

यह मात्र आपकी सजगता के द्वारा ली गई दिशा है। और कौन है जो यह नाटक उत्पन्न भी कर सकता है और वापस भी ले सकता है।'' **(स्तव चिन्तामणि 59)**

प्रत्यभिज्ञा या पहचान का वर्णन करने वाले प्रत्यभिज्ञा शास्त्रजो समस्त तंत्रों का रहस्य है, भी यही बात कहता है।

''हे शिव, इस सृष्टि में जो अस्तित्व के प्रति पूरी तरह अनजान है, मात्र आप जागरुक हो। आप सृष्टि के नाटक के जनक हो। आप अद्वितीय एवं अकेले हो जो इस स्वप्नावस्था में जाग रहे हो।''

(प्रत्यभिज्ञाकारिका)

उसी ने जाग्रतावस्था का आवरण स्थापित किया, उसी ने स्वप्नावस्था एवं प्रगाढ़ निद्रा के आवरण स्थापित किए क्योंकि उसे सृष्टि का नाटक चलाए रखना है।

यही कारण है कि वह इन आवरणों का बहुत ध्यान रखता है अन्यथा इन आवरणों का कोई मतलब नहीं। मात्र सार्वभौम चेतना में ही आवरण का मतलब है।

अतः यह सारी सृष्टि वास्तव में एक अतिविशाल, लयबद्ध नृत्य है जो जारी है। अब जानने योग्य यह है कि यहां नर्तक कौन है? यह है अंतरात्मा जो छद्मवेश में सर्वोच्च चेतना अथवा विश्वात्मा ही है। आत्मा को तीन प्रकार से जाना जाता है –

(अ) अन्तरात्मा जो पुर्याष्टक से बनी है (मन + बुद्धि + अहंकार + पंचतन्मात्रा) (Internal Soul)

(ब) बाहरी आत्मा – शरीर में रहने वाली आत्मा (External Soul)

(स) विश्वात्मा (Universal Soul)

सृष्टि नाट्य में विश्वात्मा का कोई किरदार नहीं होता और ना ही बाहरी आत्मा का। इस सम्पूर्ण नाट्य में एकमात्र 'अन्तरात्मा' ही कलाकार है। अन्तरात्मा ही स्वप्नावस्था, निद्रावस्था और शून्यावस्था में रहती है और मृत्यु पश्चात् यही शेष रहती है।

अतः सृष्टि के नाटक में वह छद्मवेश बना कर किरदार करने उतरता है। आइए अब जानते हैं कि वह अभिनय कैसे करता है ?

रंगोऽन्तरात्मा ।। 10 ।।

अन्तरात्मा ही खिलाड़ी है। इस सृष्टि के नाटक में यह कलाकार अलग–अलग तरीकों से कई किरदार निभाता है। जैसे वह राम और सीता का किरदार निभाता है या पार्वती का किरदार। इसे अभिनय कहते हैं। अभिनय मुख्यतः तीन प्रकार का होता है – सात्विक, राजस, तामस।

सात्विक अभिनय वह है जो सत्वगुण का वर्णन/प्रदर्शन करे। ऐसे ही राजस एवं तामस अभिनय भी होंगे। जब कलाकार राम का अभिनय करे तो दर्शकों को 'राम' का अनुभव होना चाहिए और ऐसा लगना

चाहिए कि यह राम होने का नाटक नहीं कर रहा है वरन् सचमुच राम है। दर्शक भूल जाते हैं कि वह एक कलाकार है। अगर दर्शक संतुष्ट हैं कि यह राम ही है तो यह सात्विक अभिनय है। इस तरह इस सार्वभौम नाट्य में महान कलाकार अभिनय करते हैं और भिन्न–भिन्न किरदार निभाते हैं।

राजस अभिनय वह है जहां दर्शक महसूस करते हैं कि कलाकार में कुछ राम जैसा है लेकिन सच में यह राम नहीं है। तामस अभिनय में दर्शक जानता है कि यह राम का अभिनय करने वाला कलाकार है बस इससे ज्यादा कुछ नहीं।

इस सृष्टि के नाटक में अन्तरात्मा अभिनेता है। वह सृष्टि में यह प्रकट करने के लिए अभिनय करता है कि यह सृष्टि एक नाट्य है। इस नाटक में यह भीतरी आत्मा वह रंगमंच है जिस पर वह भिन्न–भिन्न किरदार निभाता है। लेकिन इन भिन्न–भिन्न किरदारों को निभाते हुए भी सार्वभौम दृष्टि से अन्तरात्मा एक ही है।

चूंकि यह अन्तरात्मा सृष्टि के विकास से स्वयं को पृथक कर देती है अतः इसी में चेतना शून्यावस्था, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में ठहरती है। तुम्हें यह अहसास होना चाहिए कि यह अन्तरात्मा बाहरी आत्मा नहीं है। जाग्रतावस्था में यह बाहरी आत्मा शरीर में रहती है।

नाट्य क्षेत्र में अन्तरात्मा कदम रखती है तथा अपने अंगों में स्पन्द का संचार कर इस संसार नाट्य में अपना नृत्य आरम्भ करती है। कभी वह उदास होती है, कभी रुदन करती है, कभी हंसती है लेकिन यह सब उसका खेल है। सत्य तो यह है कि वह न उदास होती है, न स्वप्न देखती है, न हंसती है, वह एक है जैसे हमेशा से थी।

स्वच्छन्द तंत्र में यह बात कही गई है – ''स्वप्नावस्था में मिलने वाली पुर्याष्टक (सूक्ष्म शरीर) में प्रवेश कर वह सृष्टि के सारे गर्भों की यात्रा करता है। इसे ही अन्तरात्मा कहते हैं।'' **(स्वच्छन्द तंत्र 11:85)**

अन्तरात्मा के रंगमंच पर होने वाले नाटक के दर्शक कौन है?

प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि ।। 11 ।।

उसकी स्वयं की इन्द्रियां ही दर्शक हैं। अतः एक योगी के लिए उस नाटक के दर्शकों के रूप में उसकी स्वयं की इन्द्रियां होती हैं। यह योगी खोज लेता है कि यह सृष्टि एक सार्वभौम गतिशीलता है जो एक नाट्य मंचन है। यहां अभिनेता मात्र एक ही है जो अन्तरात्मा है। यही अन्तरात्मा असंख्य जीवों का किरदार तो निभा ही रही है। यहां तक कि पत्थरों/चट्टानों का किरदार भी निभा रही है।

यह योगियों के द्वारा ही अनुभूत होता है, साधारण संसारी व्यक्ति द्वारा नहीं। संसारी लोग तो खुशी, उदासी, दर्द इत्यादि के द्वारा ही हरा दिए जाते हैं अर्थात् इन संसारी संवेदनाओं से दबोच लिए गए व्यक्ति द्वारा ये अनुभव संभव नहीं है। योगी ऐसी संवेदनाओं द्वारा प्रभावित नहीं होते, वे जानते हैं कि वे संसार में क्या कर रहे हैं और यह जागरुकता उन्हें सदैव बनी रहती है।

योगी जानता है कि वह खेल रहा है और यह सृष्टि एक नाटक है। एक ऐसा नाटक जिसमें जीवन–मौत, दुःख–सुख, उतार–चढाव, अपने–पराये, मोह–घृणा आदि सब भरे पड़े हैं। वह जानता है कि सृष्टि में जो भी होता है महज एक नाटक है, खेल है।

इस तरह योगी की ज्ञानेन्द्रियां सृष्टि के आंतरिक सत्य को महसूस करती हैं न कि ऊपरी दिखावट को। वह इस सम्पूर्ण सृष्टि को एक जीवित अस्तित्व की तरह देखता है और जब ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा आत्मा का सत्य उजागर कर दिया जाता है तब जन्मजात ''विभागम्'' अथवा भिन्नता पूरी तरह से नष्ट हो जाती है। उसके अंग आनन्द एवं स्वातंत्र्य से भर जाते हैं।

वेदान्त में यह पहले ही कहा गया है – ''कुछ ही ऐसे वीर होते हैं जो अपने स्वयं के परम सत्य को स्वयं के भीतर ही समझते हैं, बाहरी तौर पर नहीं। ये नायक सदा अपने भीतर आत्मा में स्थित होते हैं। उनके लिए बाहर का रास्ता अस्तित्वहीन हो जाता है।'' **(कथा उपनिषद् 2:4, 2:1)**

और ऐसे योगी के लिए –

धीवशात्सत्त्वसिद्धिः ।। 12 ।।

आत्मा पर केन्द्रित जागरुकता द्वारा सम्पन्न योगी सर्वोच्च प्रज्ञा द्वारा देखता है कि वास्तव में वह अभिनय कर रहा है।

इस सूत्र में 'सत्व' शब्द का मतलब है सात्विक अभिनय। यह अभिनय का वास्तविक सार है। स्वयं की सर्वोच्च प्रज्ञा के सत्य को जानकर यह योगी **सात्विक अभिनय** की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। यहां वह जानता है और अनुभव करता है कि इस संसार में वह अभिनय कर रहा है।

यह **राजस अभिनय** से भिन्न है, जहां योगी को यह अनुभव होता है कि वह सार्वभौम नाट्य का अवलोकन कर रहा है लेकिन उसमें सम्मिलित नहीं है।

अन्य योगी **तामस अभिनय** की स्थिति में होते हैं। उनका अनुभव होता है कि वे मात्र कल्पना द्वारा इस नाटक में अभिनय कर रहे हैं। तामस अभिनय करने वाला योगी यह अनुभव नहीं करता है कि वह सचमुच अभिनय कर रहा है जबकि सात्विक अभिनेता को यह निश्चय होता है कि अन्य सभी लोगों की

तरह वह वास्तव में अभिनय कर रहा है। सात्विक अभिनय की यह स्थिति उन योगियों को प्राप्त होती है जो सर्वोच्च प्रज्ञा के साथ आत्मा की सजगता से भरे होते हैं।

यह वह प्रज्ञा है जो निरपेक्ष रूप से शुद्ध है एवं अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होने में दक्ष है।

ऐसी सर्वोच्च शुद्ध प्रज्ञा द्वारा निर्दिष्ट होने पर सत्य का अनुभव भीतरी तौर पर होता है।

नाट्य के बाहरी संसार में भी सात्विक अभिनय होता है लेकिन यह साधारण अभिनेताओं द्वारा नहीं होता। ऐसा अभिनय उन महान नायकों द्वारा होता है जो प्रज्ञा के मर्म को भलीभांति समझते हैं। यह सात्विक अभिनय मूलतः चार स्थितियों की नकल है – (अ) आंगिका, (ब) वाचिका (स) अहार्या (द) सात्विका।

(अ) आंगिका का तात्पर्य है शारीरिक अभिनय द्वारा प्रकट भंगिमा । जो नायक यह किरदार करता है उसे शारीरिक अभिनय ऐसा करना होता है ताकि दर्शक यह जान लें कि यह अभिनेता नहीं वरन् अभिनीत का ही शरीर है। इस स्थिति में दर्शक एकदम रोमांचित हो जाते हैं। इस तरह की शारीरिक भाव–भंगिमा को आंगिका अभिनय कहते हैं।

(ब) वाचिका की स्थिति में संवाद इस तरह से प्रेषित किए जाते हैं जिससे श्रोता विश्वास करने लगता है कि ये शब्द अभिनीत व्यक्तित्व के हैं, अभिनेता के नहीं।

(स) अहार्या की स्थिति में वेशभूषा एवं गहनों आदि के द्वारा अभिनेता आविर्भाव अथवा दर्शन देता है। जब दर्शक को विश्वास हो जाता है कि ये वेशभूषा अभिनीत की है न कि अभिनेता की। और नायक की वेशभूषा देखकर दर्शक को वास्तविकता का अहसास हो न कि वेशभूषा का। यही नायक की वास्तविक कला है। यही अहार्या अभिनय है।

(द) अंतिम अर्थात् चौथी सात्विका की स्थिति है। सात्विका में भीतरी भावों का बाहरी प्राकट्य जैसे मुस्कुराहट, उदासी, आंसू आदि दर्शक को संतुष्ट कर देते हैं और उन भावों में दर्शक भी बहने लगता है।

इस बाहरी नाट्य में सात्विक अभिनय उच्च स्तर के अभिनेता (खिलाड़ी) करते हैं।

अतः जब योगी स्वरूप में स्थिर हो तब –

सिद्धः स्वतंत्रभावः ।। 13 ।।

उस योगी के लिए पूर्ण स्वातंत्र्य की स्थिति मिल ही चुकी है।

इस सूत्र में सिद्धः का तात्पर्य है सम्पन्नः (achieved)। स्वतंत्र भावः (State of Absolute independence) या पूर्ण स्वतंत्रता की स्थिति। यह पूर्ण स्वातंत्र्य प्रत्येक ज्ञान, क्रिया एवं इच्छा में रहता है।

इस स्वातंत्र्य से योगी समस्त सृष्टि को स्वयं (योगी) पर निर्भर बना लेता है। यह संसार उस योगी के नियंत्रण में होता है और सृष्टि में वह जो चाहता है वह हो जाता है।

महान योगी नाथ पाद ने कहा था – ''तुम्हें पूर्ण स्वातंत्र्य की शक्ति का स्वामी बनना चाहिए जो वास्तव में भैरव की शक्ति है।''

स्वच्छन्द तंत्र में भी उल्लेख है – ''समस्त प्राथमिक संसार, सभी व्यक्ति, सभी शब्द एवं वाक्य निरपेक्ष रूप से ऐसे योगी के सीधे नियंत्रण में होते हैं जो पूर्ण दृढ़ता से शिव का सत्य निश्चित कर रहा है। वह जो चाहता है, सम्पन्न हो जाता है। '' **(स्वच्छन्द तंत्र 7 : 245)**

ऐसे योगी के लिए –

यथा तत्र तथान्यत्र ।। 14।।

समाधि या व्युत्थान में (बाहरी संसार में) यह निरपेक्ष निर्भरता एक जैसी है।

ऐसे योगी के लिए समाधि के निरपेक्ष अनुभव एवं बाहरी संसार (व्युत्थान) के निरपेक्ष अनुभव में कोई अन्तर नहीं होता। वह समाधि में हो या संसार का काम कर रहा हो, दोनों ही स्थिति में स्वातंत्र्य एक जैसा ही रहता है।

जब कभी भी इस योगी ने समाधि में स्वात्म अनुभव किया वह अनुभव इस योगी को बाहरी संसार के हर पहलू में भी बना रहता है। उसके लिए समाधि एवं बाहरी संसार के अनुभवों में कोई अंतर नहीं होता अर्थात् उसके सत्य के अनुभव वैसे ही बने रहते हैं।

स्वच्छन्द तंत्र में कहा गया है – ''वह सदा आत्मनिर्भर है। वह यहां भी स्वतंत्र है और वहां भी। वह सब कहीं स्वतंत्र है।'' **(स्वच्छन्द तंत्र 7 : 260)**

स्पन्द में भी कहा है – ''जहां अकृत्रिम रूप से आत्मा का सत्य है, सार्वभौम स्वातंत्र्य चमक उठता है। इस सत्य को पूर्ण श्रद्धा से पाया जाना चाहिए। हालांकि उसने पूरी तरह स्वातंत्र्य पा लिया है, उसे जीवनभर सक्रिय रहना होता है ताकि सत्य का लगातार अनुभव होता रहे और अन्त में वह शिवस्वरूप हो जाए।

उस योगी का कथन है –

बीजावधानम् ।। 15 ।।

बीज – सर्वोच्च शक्ति जो सृष्टि का बीज है एवम् अवधानम् – पूर्ण सावधानी से सतत् जागरुक रहना। कथन का तात्पर्य यह है कि निरन्तर जागरुक रहकर स्वातंत्र्य शक्ति पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। यह तुम्हें कब करना चाहिए ? यह तुम्हें बोध होने के क्षण से ही सतत् जारी रखना चाहिए, उसके पहले नहीं। क्योंकि बोध के पहले तुम्हें जागरुकता की इतनी महारथ हासिल हो नहीं सकती कि सतत् स्वातंत्र्य पर ध्यान जीवन भर कर सके। लेकिन बोध के अनुभव के बाद स्वतः ही यह क्षमता प्राप्त हो जाती है।

मान लो कि तुम्हें समाधि का अनुभव हो जाता है, लेकिन तुम्हें अपने सत्य स्वरूप का बोध नहीं होता और तब तक तुम आराम भी करना चाहोगे साथ ही मनोरंजन भी। लेकिन जैसे ही तुम स्वरूप का अनुभव करते हो स्वतः ही जागरुक हो जाते हो तथा जागरुकता से सक्रिय रहने की शक्ति तुम्हें प्राप्त हो जाती है। अब तुम कभी निष्क्रिय नहीं रहोगे क्योंकि क्रियाशीलता की सामर्थ्य तुम्हें प्राप्त हो चुकी है।

मृत्युजित (नेत्र तंत्र) में कहा है – ''वह अंकुर जो समस्त सृष्टि का कारण है, सभी शक्तियों का कारण है, श्वास एवं निःश्वास का कारण है, वह परशिव की सर्वोच्च शक्ति सभी कारणों का कारण अर्थात् सार्वभौम कारण है।'' **(नेत्र तंत्र 7 : 40)**

इस योगी को अपना मन एवं प्रज्ञा इसी बिन्दु पर निरन्तर केन्द्रित रखना चाहिए और जब यह योगी ऐसा करता है तब –

आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति ।। 16 ।।

इस (वास्तविक) आसन पर विराजित योगी अमृत के सागर में गोता लगाता है।

योग दर्शन में वर्णित आसन वास्तव में आसन ही नहीं है। ''शिवयोग'' ही वास्तव में वह आसन या मुद्रा है जो इस योगी का आसन है। जागरुकता की सर्वोच्च शक्ति ही इस योगी की मुद्रा है। तुम इस मुद्रा को तब धारण करते हो जब सजगता की सर्वोच्च शक्ति तुम्हें प्राप्त हो जाती है। जीवन की हर क्रिया को करते हुए तुम सजग रहते हो और तब तुम उस मुद्रा में बैठे हो जो वास्तविक आसन है। भौतिक मुद्राएं जिन्हें आसन कहा जाता है, वास्तव में आसन हैं ही नहीं अपितु आसन की नकल हैं। वास्तविक आसन तो वह है जब तुम आत्मा की जागरुकता में स्थित होते हो। इसी को निरपेक्ष जागरुकता कहते हैं।

इस सत्य के बोध के पश्चात् कि आत्मा का सत्य क्या है, यह योगी आसन, प्राणायाम, ध्यान और धारणा को त्याग कर सुखपूर्वक 'वास्तविक' आसन पर विराजित रहता है।

सुखम् = सुखपूर्वक / प्रयासहीन / प्राणायाम – धारणा – ध्यान आदि के प्रयास के बिना ही यह योगी सर्वोत्तम आसन पर विराजित रहता है।

यह योगी आंतरिक रूप से स्वयं के सत्य का अनुभव करता है और बिना प्रयास ही उस अमृत सागर में प्रवेश कर जाता है जो संसार का बीज है।

अमृत के महासागर में गोता लगाने का क्या मतलब है ? अमृत सागर में गोता लगाने का अर्थ है शरीर, श्वास (प्राण), पुर्याष्टक तथा शून्य के प्रभाव या संस्कार वह छोड़ देता है तथा अमृत से एक हो जाता है।

मृत्युंजित (नेत्र तंत्र) में उल्लेख है कि – ''तुम्हें सहस्रार्ध चक्र या मूलाधार पर ध्यान केन्द्रित करने की जरूरत नहीं है। ना ही तुम्हें नाक पर नजर केन्द्रित करने की जरूरत है, न पीठ पर, न नथुनों पर, न श्वास पर ध्यान कर प्राण–अपान का अभ्यास करने की जरूरत है। न तुम्हें शरीर के किसी भी भाग में ध्यान केन्द्रित कर सार्वभौम रूप से ध्यान करने की जरूरत है, न ऊपर ध्यान करने की जरूरत है और न नीचे।''

न तुम्हें आंखें बन्द करना है, न पूरी आंखे खोलना है, ध्यान में तुम्हें न कोई सहारा लेना है, न कोई सहारा छोड़ना है। तुम्हें न जीवजगत पर ध्यान केन्द्रित करना है न सार्वभौम तत्वों पर, न ही पंचतन्मात्राओं पर।

तुम्हें तो यह सब एक तरफ रखकर सजगता की सार्वभौम सत्ता में प्रवेश करना है। शैवयोगी ऐसा ही सफलतापूर्वक करते हैं।

वास्तव में शैवयोगी की यह अवस्था ही शिव की वास्तविक अवस्था है। यह अवस्था औरों को प्रकट नहीं होती। मात्र प्रकट करने वालों को ही प्रकट होती है। **(नेत्र तंत्र 8 : 41–45)**

यह स्थिति, जो शिव का सत्य है, प्रकट नहीं होती वरन् प्रकट करने वाला ही यह स्थिति है। प्रकट करने वाला ही शिव का सत्य है। यह स्थिति प्रमेय की तरह नहीं वरन् प्रमाता की तरह मिलती है। अतः योगी भीतर से सक्रिय होता है, बाहर से नहीं। उसे स्वयं की सत्ता के प्रति जागरुक रहने के लिए सक्रिय रहना होता है। यही वास्तविक सक्रियता है। इधर उधर घूमना सक्रियता नहीं है। पा लिया जाने वाला या प्रकट कर दिया जाने वाला कोई बिन्दु नहीं है वरन् प्रकट करने वाला ही प्रकट करने योग्य है और यह स्थिति प्रमातृ चेतना से अभिन्न है। यह प्रमातृ चेतना ही है।

जब आणवोपाय द्वारा योगी की श्वास गति रुक जाती है तब वह सुषुम्ना नाड़ी अर्थात् मध्य मार्ग में प्रवेश कर भ्रम के साम्राज्य पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस तरह शाक्तोपाय की सामर्थ्य हासिल कर लेता है। जब वह शाम्भव स्थिति का अमृत प्राप्त कर लेता है तब –

स्वमात्रानिर्माणमापादयति ।। 17 ।।

इस अनुभव के बाद कि ''यह प्रमेय संसार मेरी प्रमातृ चेतना की ही उपज है'' वह जो चाहे निर्मित कर सकता है।

इस सूत्र में स्वमात्रा का मतलब है ''स्वयं की चेतना का परिणाम या उपज'' ।

जब स्वचेतना समय एवं अंतरिक्ष के रूप में बदल जाती है तो यह रचनात्मकता का मापदण्ड होती है। अतः वह अपनी इच्छा से सृष्टि का निर्माण कर सकता है। वह जो भी सोचता है, निर्मित कर सकता है।

स्वच्छन्द तंत्र में कहा गया है – ''वृहद का छद्मरूप धरने से (स्वांग रचने से) वह वृहद हो जाता है और सूक्ष्म के छलावे से वह सूक्ष्म हो जाता है। अतः दोनों रूपों में अभिनेता तो वही है।''

(स्वच्छन्द तंत्र 4:295)

प्रत्यभिज्ञा कारिका में भी उल्लेख है –

चेतना की निरपेक्ष स्वतंत्रता के कारण वह सीधे–सीधे स्वयं से ही सृष्टि का निर्माण कर देता है। इस तरह चैतन्य की सत्ता ही सृष्टि का रूप ले लेती है। अतः सृष्टि चेतना से अभिन्न ही है।

''प्रमेय संसार का निर्माण प्रमेयता की शक्ति से नहीं अपितु प्रमातृ चेतना से ही होता है।''

(ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका 1:5, 1:15)

प्रमातृ चेतना से ही प्रमेय संसार निर्मित हुआ है अतः प्रमातृ चेतना ही वह खिलाड़ी या निर्माता है जिससे सब कुछ बना है। चाहे प्रमेय संसार में बना हो अथवा प्रमातृ संसार में।

तंत्र में यह भी कहा है– ''हे पार्वती, जो व्यक्ति गुरुकृपा से यह जान लेता है (जिसे बोध हो जाता है) कि जल का सत्य क्या है, और हिम का सत्य क्या है? उस व्यक्ति के लिए इस संसार में कुछ भी करना शेष नहीं रहता। यह जन्म उसका अंतिम जन्म होता है। जीते जी ही वह जीवन–मुक्त है। वह जीवन–मरण के चक्र में पुनः प्रवेश नहीं करता।''

जल एवं हिम में भिन्नता है, दोनों की बनावट अलग–अलग है लेकिन दोनों में पदार्थ एक ही है। जिसे यह बोध हो जाता है, उसके लिए संसार में बिना किया हुआ कुछ बचता ही नहीं।

स्पन्दकारिका यही बात ऐसे कहती है – ''जो यह समझ लेता है कि सृष्टि एवं सृष्टि के निर्माता में कोई भेद नहीं है उसके लिए सृष्टि ही निर्माता और निर्माता ही सृष्टि हो जाते हैं तब उसके लिए संसार हेय नहीं होता अपितु आनन्द और विस्मय से भरा खेल हो जाता है। ऐसा जानकर वह लगातार स्वचेतना में स्थिर रहता है। कोई शंका नहीं, वही जीवन–मुक्त है।'' **(स्पन्दकारिका 2:5)**

इस योगी ने अपनी स्वातंत्र्य शक्ति से स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर बना लिए हैं। उसके लिए अब कोई जन्म–मृत्यु का बन्धन नहीं है। अगले सूत्र में यही अभिव्यक्त है –

विद्याऽविनाशे जन्म विनाशः ।। 18 ।।

जब उसका आत्मज्ञान स्थायी हो जाता है तब उसके लिए जन्म–मृत्यु का चक्र हमेशा के लिए समाप्त हो जाता है।

जब निरन्तरता से अस्तित्व का ज्ञान बना रहता है तब पुनर्जन्म की संभावना ही समाप्त हो जाती है। जन्म का कारण क्या है? **अज्ञान पूर्वक किया गया कर्म ही जन्म का कारण है।** यही अज्ञानपूर्वक किया गया कर्म अंगों को बनाता है, शरीर और भुजाओं को बनाता है। जब ऐसे कर्म का ही अभाव होता है तब जन्म (तथा मृत्यु) की संभावना समाप्त हो जाती है।

इस विषय में **श्रीकण्ठी शास्त्र**का कथन है – ''जिस योगी ने संसार को उसकी विभिन्नता सहित त्याग दिया है, जिसने सही–गलत का भेद भी त्याग दिया है, जिसे यह बोध हो गया है कि घास की पत्ती, फूल, पहाड़ियां, जीव–जन्तु शिव से लेकर पृथ्वी तक अस्तित्वगत या अस्तित्वहीन सब कुछ शिव ही है शिव से अलग कुछ भी नहीं, वह योगी जन्म–मृत्यु को पार कर जाता है।

स्वच्छन्द तंत्र में कहा है – ''जब गुरु द्वारा क्रमबद्ध शिक्षा पाकर शिष्य स्वचेतना में स्थिर हो जाता है जो शुद्ध एवं सर्वोच्च है तब उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता।''

नेत्र तंत्र में कहा है – ''जीव की तीनों स्थितियों से परे योग का दिव्य पथ अपना कर जो योगी सर्वोच्च, सनातन तथा स्थायी अस्तित्व का अनुभव पा लेता है, फिर कभी एक बार भी संसार में नहीं लौटता।'' **(नेत्र तंत्र 8:26, 8:27)**

लेकिन यदि योगी का शुद्ध ज्ञान कमजोर पड़ जाए तो –

कवर्गादिषु माहेश्वर्याद्याः पशुमातरः ।। 19 ।।

मातृका संसार में घोरतर शक्तियां उस योगी को अपने अधीन कर इस संसार में धकेल देती हैं।

इस सूत्र में कवर्गादिषु का मतलब ''अक्षर, शब्द तथा वाक्यों का संसार' से है। पहले वहां अक्षर – तदन्तर शब्द और फिर वाक्य हैं। अक्षरों से शब्द एवं शब्दों से वाक्य बने हैं।

मातृका संसार में परशिव की आठ शक्तियां (माहेश्वराद्या) पशु की जननी हैं। अज्ञान या भिन्नता के ज्ञान में गिरा व्यक्ति ही पशु है। यह आठ माताएं हैं – शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, मन, बुद्धि एवं अहंकार (सीमित अहंकार) । (पुर्याष्टक)

इन आठ घोरतर शक्तियों का काम तुम्हें स्वचेतना से दूर ले जाना है। प्रमेय संसार में आठ शक्तियां उन व्यक्तियों पर राज करती हैं जो अज्ञानी हैं।

क्षेमराज कहते हैं – ''सूत्र के अन्त में एक शब्द जोड़ दिया जाना चाहिए, वह शब्द है अधिष्ठात्र्यो–भवन्ति अर्थात् उस व्यक्ति को अपने अधिकार में ले लेती हैं।''

आगे क्षेमराज व्याख्या करते हैं कि कैसे स्वातंत्र्य शक्ति नीचे उतरती प्रतीत होती है और पाशबद्ध जीव के स्तर तक आ जाती है। इसके लिए क्षेमराज तंत्रशास्त्रों का सन्दर्भ लेते हैं। वास्तव में स्वातंत्र्य शक्ति निचले स्तर पर उतरी ही नहीं लेकिन अज्ञानी को ऐसा ही प्रतीत होता है।

''सर्वोच्च स्वातंत्र्य शक्ति सदैव ही परशिव से अभिन्न होती है।'' **(मालिनी विजयतंत्र 3:5)**

''जब परशिव संसार के रूप में प्रकट होना चाहते हैं तब स्वातंत्र्य शक्ति इच्छाशक्ति में परिवर्तित हो जाती है।'' **(मालिनी विजयतंत्र 3:6)**

''हे प्रिय देवी ! अब मैं तुम्हें बताता हूं कि कैसे शक्ति, जो सदा एक ही है, भिन्न–भिन्न रूप रख कर भिन्न–भिन्न हो जाती है।'' **(मालिनी विजयतंत्र 3:6)**

जब इच्छाशक्ति जानती है कि यह करना है तब इच्छाशक्ति ज्ञानशक्ति में बदल जाती है।

जब इच्छाशक्ति को यह अहसास होता है – यह इच्छित है साथ ही यह इच्छित नहीं है अर्थात् वह भेद करती है कि क्या पाना है और क्या नहीं पाना, तब उसके लिए इच्छाशक्ति ज्ञानशक्ति में परिवर्तित हो जाती है। जब ज्ञानशक्ति इच्छित कार्य करना चाहती है (इच्छा पूरी करना चाहती है) तभी वह ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति में बदल जाती है। **(मालिनी विजयतंत्र 3:8)**

इस तरह परशिव की इच्छाशक्ति चिन्तामणि की भांति होती है। ''चिन्तामणि'' वह पत्थर होता है जिसके नीचे यदि कुछ रखा जाए तो यह पत्थर तुरन्त उस वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार यह इच्छाशक्ति अन्ततः इच्छित वस्तु का आकार ग्रहण कर उससे अभिन्न हो जाती है। इस तरह भिन्नता प्रकट होती है। **(मालिनी विजयतंत्र 3:9)**

पहला आकार वह (शक्ति) मातृका का रूप ग्रहण करती है अर्थात् 'अ' से 'क्ष' तक के अक्षर और यह अक्षरों की माला दो गुनी, फिर नौ गुनी और फिर पचास गुनी हो जाती है। **(मालिनी विजयतंत्र 3:10)**

अक्षरों की माला में दो वर्ग होते हैं – स्वर एवं व्यंजन। 'अ' से 'अः' तक (अ से विसर्ग तक) स्वर हैं जो **बीज** हैं। 'क' से 'क्ष' तक के व्यंजन **योनि** हैं। यहीं बीज विकसित होते हैं।

ये वर्ग नौ भागों में विकसित होते हैं। 'अ' से 'अः' तक प्रथम वर्ग, दूसरा 'क' वर्ग, तीसरा 'च' वर्ग, चौथा 'त' वर्ग, पांचवां 'ट' वर्ग, छठा 'प' वर्ग, सातवां 'य' वर्ग, आठवां 'स' वर्ग तथा नौवां 'क्ष' वर्ग।

'अ' से 'क्ष' तक पचास अक्षरों का विन्यास है। दोहरी – नौ गुनी तथा पचास गुनी तीनों शब्दमाला के वर्गों को स्वातंत्र्य शक्ति अपनाती है।

बीज स्वयं परशिव है और योनि उनकी स्वातंत्र्य शक्ति है। ये आठ वर्ग आठ माताओं द्वारा नियंत्रित किए जाते हैं। ये आठ माताएं ही अज्ञानी व्यक्तियों का (पशुओं का) नियंत्रण करती हैं।

(मालिनी विजयतंत्र 3:12)

ये पचास अक्षर पचास रूद्रों के अनुरूप होते हैं। इन्हें मिलाकर जब प्रमेय संसार एवं प्रमातृ संसार से अलग–अलग जोड़ते हैं तो एक सौ रूद्र हो जाते हैं। **(मालिनी विजयतंत्र 3:13)**

इस तरह मालिनी विजयतंत्र के स्पष्टीकरण से समझ सकते हैं कि जब शिव की सर्वोच्च शक्ति पारमेश्वरी जो परावाक् है, सृष्टि में उतरती है तो पहले इच्छा, फिर ज्ञान तथा क्रिया बनती है। अब वह स्वर का स्वरूप ग्रहण करती है जो बीज है और व्यंजन का स्वरूप ग्रहण करती है जो योनी है। वह क्रमशः अक्षरों के वर्गों के रूप ग्रहण करती है और उनको नियंत्रित करने वाली माताओं का रूप लेती है। ये ही हैं शिव और उसकी आठ शक्तियां या महान माताएं।

अक्षरों की माला का निरीक्षण करने के दो तरीके हैं – सविकल्प एवं निर्विकल्प ।

सविकल्प अर्थात् विचारों की भिन्नता के साथ एवं निर्विकल्प अर्थात् विचारों की भिन्नता के बिना।

योगियों को ध्वनि, अक्षर या वाक्यों को निर्विकल्प रूप से निरीक्षण करने का अनुभव होता है।

उदाहरणार्थ – यदि तुम कहो कि मुझे एक बाल्टी पानी ला दो, मुझे एक बाल्टी पानी चाहिए। जब इन वाक्यों को कोई निर्विकल्प रूप से परीक्षण करेगा तो वह पानी की बाल्टी नहीं समझेगा वरन् दिखाई देगा कि चेतना स्वयं के भीतर ही बह रही है। ......ला......दो – का तात्पर्य कुछ नहीं अपितु अक्षर ल् – आ – द् – ओ है। अलग–अलग अक्षरों का कोई मतलब नहीं। मतलब निकालने के लिए तुम्हें अपनी स्वचेतना को इससे जोड़ना होगा। जब स्वचेतना को तुम अक्षरों से नहीं जोड़ते, शब्दों – वाक्यों से नहीं जोड़ते तो तुम शिव से एक होते हो। यह बोध का निर्विकल्प सत्य है।

जब तुम बाल्टी लाने की इच्छा पर प्रतिक्रिया करते हो तो यह सविकल्प निरीक्षण है। यह तरीका अज्ञानी व्यक्ति का है। अज्ञानी व्यक्ति इन अक्षरों, शब्दों, वाक्यों को मन में घुस जाने देता है और तब मातृका उसे कभी रुलाती है, कभी हंसाती है, कभी खुशी से, कभी ईर्ष्या से भर देती है। कभी उदास तो कभी प्रसन्न कर देती है।

उदाहरणार्थ – तुम सुनो – ''पिताजी मर गए'' तो पाशबद्ध जीव रोने लगता है जबकि योगी – 'पि–ता–जी–म–र–ग–ए ऐसे भिन्न–भिन्न अक्षरों में मात्र सर्वोच्च चेतना के दर्शन करता है। उसके लिए मातृका कोई शाब्दिक अर्थ नहीं रखती वरन् सर्वोच्च स्वातंत्र्य ही दिखाई देता है। यह निर्विकल्प निरीक्षण है। इस वजह से योगी रोने नहीं लगेगा।

साधारण सीमित व्यक्ति आठ माताओं के द्वारा नियंत्रित होता है जो इस पशु की जननी है। ये माताएं कभी आश्चर्य, कभी खुशी, कभी मोह और कभी घृणा पैदा कर व्यक्ति से खेलती रहती हैं।

तिमिरोद्घाट तन्त्र में कहा गया है – ''ब्रह्मरन्ध्र के केन्द्र में शिव की सर्वोच्च शक्ति स्थित है और माता के आसपास आठ और माताएं जो पशुओं की जननी (Mother of Beast) हैं बैठी हैं। ये आठों महाघोर (Terrible) शक्तियां हैं।

इन शक्तियों के हाथों में ब्रह्मपाश (Noose) होता है जो एक तरह का फंदा है। यही फंदा व्यक्ति को सीमा में बांध देता है और असीम की स्थिति तक पहुंचने से रोकता है। ये शक्तियां बार–बार व्यक्ति को अज्ञान में धकेलती हैं। इनसे पार पाना बड़ा कठिन है। **(तिमिरोद्घाट तन्त्र)**

शाम्भवोपाय में चौथा सूत्र ''ज्ञान अधिष्ठानं मातृका'' पूर्व में कहा जा चुका है। वहां सामान्य तौर पर मातृका जो भिन्नता के ज्ञान की अधिष्ठात्री है, के बारे में कहा जा चुका है। यहां विशेष तौर पर मातृका का वर्णन है। यहां स्पष्ट किया गया है कि स्वात्म अनुभव के बाद भी जो योगी अपनी सजगता को खो देता है वह पुनः इन महाघोर शक्तियों का शिकार बन जाता है।

अब आगे कहा गया है कि योगी को जीवन के हर क्षेत्र में सजग बने रहना जरूरी है ताकि चेतना का ज्ञान सतत् बना रहे, कभी कमजोर न पड़े।

त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् ।। 20।।

चौथी अर्थात् तुर्यावस्था को तैल की तरह फैलाना चाहिए ताकि यह अन्य तीन अवस्थाओं जाग्रत, स्वप्न एव सुषुप्ति में भी व्याप्त हो जाए।

चौथी अवस्था (तुर्यावस्था) जो शुद्ध ज्ञान से भरी है, शुद्ध प्रकाश से भरी है, परम आनन्द एवं मादकता से परिपूर्ण है। ऐसी तुर्यावस्था को फैलाना चाहिए, उसका विकास करना चाहिए ताकि अन्य तीनों अवस्थाओं में उसका ज्ञान, प्रकाश एवं आनन्द व्याप्त हो जाए। जैसे कि तैल को किसी सतह पर उंडेलने पर वह सभी दूर फैल जाता है तथा उस सतह की प्रकृति को तैलीय कर देता है।

तीनों अवस्थाओं के परिवर्तन काल में यानि एक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रवेश करते समय तुर्य का अनुभव होता है जैसे जाग्रत से स्वप्नावस्था या फिर स्वप्नावस्था से निद्रावस्था में प्रवेश के समय अथवा

विपरीत दिशा में लौटते समय यह अनुभव होता है। लेकिन जब योगी इन अवस्थाओं को विकसित करता है तब न केवल प्रवेश एवं निकास के समय तुर्यानुभव होता है अपितु इनके मध्य भी तुर्यानुभव होने लगता है।

ऐसा सम्पन्न करने के लिए प्रवेश एवं निकास के बिन्दुओं पर हुए अनुभव को संभाले रखना होता है अर्थात् तुर्यरस तुर्यामृत को ध्यान पूर्वक सावधानी से संभालना होता है तभी यह तीनों अवस्थाओं के मध्य तक फैल जाता है। ऐसा सम्पन्न होते ही योगी सदा तुर्यरस में रहता है।

शाम्भवोपाय के सातवें सूत्र ''जाग्रत स्वप्न सुषुप्त भेदे तुर्याभोग संभवः'' में भी यह बात स्पष्ट की गई हैं अर्थात् तीनों अवस्थाओं में तुर्य नैसर्गिक रूप से है ही। साथ ही शाम्भवोपाय का ग्यारहवां सूत्र ''त्रितय भोक्ता वीरेशः'' भी योगी की इस सदा तुर्य में रहने की अवस्था का वर्णन करता है। इन तीनों अवस्थाओं में तुर्यारस में रहने वाला शक्ति चक्र का स्वामी बन जाता है।

यहां वर्णित है कि हठपूर्वक (हठपाक युक्त्या) शाम्भवोपाय का उपयोग करने से जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति पिघल कर तुर्य से एक हो जाते हैं।

यहां यह बताया गया है कि जाग्रत, स्वप्न एव सुषुप्ति एवं तुर्यावस्था तलवार एवं उसकी म्यान की तरह हैं। तुर्य तलवार की तरह एवं अन्य तीन अवस्थाएं म्यान की तरह हैं। ये तीन अवस्थाएं तुर्य से अलग होकर भी जुड़ी हुई हैं।

इसी तरह योगी को यह जाग्रति होना चाहिए कि ये तीन अवस्थाएं तुर्य से एक हैं। तीन सूत्रों में अन्तर यही है। अतः यह सूत्र मात्र पुनरावृत्ति नहीं है।

अब इस स्थिति को प्राप्त करने का उपाय बताया जाता है –

मग्नः स्वचित्तेन प्रविशेत् ।। 21 ।।

जो योगी स्वात्मा में डूबा है, उसे पूरी तरह स्वात्मा में प्रवेश कर जाना चाहिए। साथ ही उसे अपने मन को पूरी तरह जागरुक रखना चाहिए।

जब योगी जाग्रत, स्वप्न एव सुषुप्ति में भी ईश्वर चेतना में स्थिर रहता है, तब उसकी स्थूल श्वासगति सूक्ष्म श्वासगति में प्रविष्ट हो जाती है एवं सूक्ष्म श्वासगति सर्वोच्च में प्रवेश कर जाती है जहां उसे स्पन्द का अनुभव स्वात्मा में प्राप्त होता है। **(नेत्र तंत्र 8:12)**

यहां **क्षेमराज** अपनी व्याख्या इन शब्दों से आरम्भ करते हैं – ''..... तब तुम स्वात्मा में मन सहित प्रवेश करो ताकि ईश्वर चेतना पूरी तरह बनी रहे।''

मृत्युंजिद्भट्टारक शास्त्र जो नेत्रतंत्र का ही हिस्सा है जिसमें शिव पार्वती को कहते हैं– ''स्थूल साधनों जैसे प्राणायाम, ध्यान आदि को एक तरफ रख कर विचारशून्य होकर स्वचित्त में डूबने की एकाग्रता

बनाये रखो। जब उसका मन स्वात्मा में डूब जाता है तब अन्तर्मुखी संवेदना से उसे आत्मा में प्रवेश मिल जाता है जहां उसे विमर्श का चमत्कार प्राप्त होता है।''

लेकिन ऐसा कैसे होगा ? ...... स्वात्मा में डूब जाने से। डूब जाने का तात्पर्य क्या है?

जब तुमने जाग्रत शरीर में अहन्ता का विकास कर लिया है, इसी तरह स्वप्न एवं सुषुप्ति में भी अहन्ता का विकास कर लिया है। इसका तात्पर्य यह है कि तुमने स्थूल शरीर पर अहन्ता का विकास, प्राण–शरीर पर अहन्ता का विकास एवं पुर्याष्टक (पंच तन्मात्रा + अंतःकरण) पर अहन्ता का विकास कर लिया है। इस समग्र अहन्ता को चित् चमत्कार के अमृत में डुबो देना है।

स्वच्छन्द तंत्र में पूर्व में कहा गया था – ''मन की सारी गतिविधियों को अलग कर उन्हें ईश्वर चेतना से एक कर देना चाहिए। तब यह सीमित प्रमाता (पशु प्रमातृ) शिवावस्था को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है और जीवन–मरण के चक्र से सदा के लिए छूट जाता है।'' **(स्वच्छन्द तंत्र 4 : 437)**

विज्ञान भैरव में भी यही कहा है – ''जब मन, पशु चेतना, शक्ति (श्वास शक्ति), आत्मा (देह अहन्ता) विलीन हो जाते हैं तब भैरव प्रकट हो जाते हैं।'' **(विज्ञान भैरव 138)**

ज्ञान गर्भ स्तोत्र में भी यही बात समझायी गई है – ''हे माँ ! जब कोई दैनन्दिन जीवन में मन को काबू कर लेता है तथा इन्द्रियों पर निर्भरता को दृढ़ता से इंकार कर देता है एवं अपनी समस्त इन्द्रियों को ईश्वर चेतना की ओर उन्मुख कर देता है तब आपकी कृपा से वह तत्क्षण ही ईश्वर चेतना को प्राप्त कर लेता है जो उसे अद्वितीय आनन्द से भर देती है। मन एवं इन्द्रियों पर निर्भरता ही दासता का कारण है।''

हमारे महान गुरुओं ने यही कहा है – ''अब जो योगी ईश्वर चेतना में स्थिर है, उसके लिए न ''मन'' है, न 'श्वास' है, न 'विचार' है, न 'संवेदनाएं' हैं अर्थात् उसके लिए ईश्वर चेतना ही सर्वव्याप्त है।'' कुछ समय पश्चात् यह योगी स्वतः ही समाधि से बाहर आ जाता है। तब क्या होता है जब वह समाधि से बाहर आ जाता है? अगले सूत्र में यही स्पष्ट किया गया है –

प्राणसमाचारे समदर्शनम् ।। 22 ।।

अर्थात् जब योगी की श्वास धीमे–धीमे बाहर प्रसरित होती है तब वहां भी उसे ईश्वर चेतना का अनुभव होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसे तब अनुभव होता है कि ईश्वर चेतना वहां पहले से उपस्थित है। इस समय उसे जाग्रत एवं तुर्य अवस्था में कोई अन्तर महसूस नहीं होता है। साथ ही स्वप्न या निद्रावस्था का तुर्य से भेद भी न ही जान पड़ता है। उसके लिए तीन अवस्थाएं तुर्य से भरी होती हैं।

ईश्वर चेतना की स्फुरणा से भरा योगी जब धीमे–धीमे समाधि से बाहर आता है तब उसे लगता है के उसकी श्वास सर्वोच्च सुगन्ध से भरी है और जब उसकी श्वास बाहर आती है तब भी उसे लगता है कि

श्वास बाहर नहीं जा रही है अपितु उसके अस्तित्व में स्थिर है। धीमे–धीमे श्वास बाहर निकालते हुए उसे अनुभव होता है कि जाग्रत–स्वप्न–सुषुप्ति ईश्वर चेतना के अमृत से भरे हैं और वह इसी सुगन्ध के साथ जाग्रतावस्था में आता है। इस समय वह योगियों का राजा है। वह इस सुगंध को कभी नहीं खोता है। चाहे वह संसार के कर्म कर रहा हो, सो रहा हो अथवा स्वप्न देख रहा हो।

आनन्द भैरव शास्त्रमें यह वर्णित है – ''जब योगी दिनचर्या का अन्त कर एकमात्र ईश्वर–चेतना में स्थिर रहता है तब वह सभी देवी–देवताओं से एक हो जाता है। समस्त वर्ण एवम् आश्रम उसके लिए बराबर होते हैं। ख़ाद्य एवं अखाद्य भोजन उसके लिए एक समान होते हैं। उसके लिए कोई विधि अथवा निषेध भी नहीं होता। वह पूरी तरह से मुक्त होता है। जीवन के समस्त बंधनों से मुक्त।''

प्रत्यभिज्ञा में उत्पलदेव कहते हैं – ''ये महान योगी सोते भी हैं, जागते भी हैं। संसार के समस्त कार्य करते हैं लेकिन इनके लिए कोई सीमाएं नहीं होतीं। ग्रहण और त्याग, अच्छा और बुरा, पवित्र और अपवित्र इत्यादि के भेद उनके लिए समाप्त हो गए हैं। ये योगी सार्वभौम ईश्वर चेतना से एक हो चुके हैं।

लेकिन जो योगी सोने, जागने एवं स्वप्न में तुर्य में स्थिर नहीं रह पाता तथा एक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रवेश के समय मिलने वाले तुर्य रस से संतुष्ट हो जाता है ऐसे योगी के लिए –

मध्येऽवर प्रसवः ।। 23।।

उसे ईश्वर चेतना का अनुभव तीनों अवस्थाओं (जाग्रत–स्वप्न–सुषुप्ति) के मध्य में नहीं होता। उसे तीनों अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था के आरम्भ तथा अन्त में ईश्वर चेतना या तुर्य का अनुभव होता है। यद्यपि जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति के मध्य रहकर उसका अनुभव सामान्यजन के अनुभव के तुल्य होता है तथापि यह नहीं सोचना चाहिए कि यह योगी ईश्वर चेतना से दूर है। वह सदा माया से आच्छादित नहीं रहता। मात्र तीनों अवस्थाओं के मध्य में वह माया से आच्छादित रहता है।

इस संदर्भ में **मालिनी विजयतंत्र** में उल्लेख है – ''इस विचार से कि लोग उसके बारे में क्या सोचेंगे? लोगों की उससे (योगी से) क्या अपेक्षाएं हैं? वह लोगों की किस प्रकार सहायता कर सकता है अथवा वरदान दे सकता है। वह योगी कभी क्रोधित हो जाता है, कभी लापरवाह, कभी असंतुलित मानसिकता का हो जाता है। ऐसे में तीन अवस्थाओं के मध्य से ईश्वर चेतना का प्रवाह रुक जाता है और तब इन तीनों अवस्थाओं के मध्य वह खिलौना बन जाता है। साथ ही समस्त सांसारिक संवेदनाओं से छला जाता है। अतः उच्चता को प्राप्त करने की चाह रखने वाले योगी को इन बाहरी प्रभावों से मुक्त रहना चाहिए।

ये प्रभाव उसे तीन अवस्थाओं के मध्य केन्द्र से दूर रखते हैं। यदि वह इन बाहरी विषयों के बारे में न सोचे तो ईश्वर चेतना उसकी किसी भी अवस्था के आरम्भ–मध्य एवं अन्त में अविकल बहती रहेगी।

पूर्व में यह बताया जा चुका था कि कुछ योगी अवरः प्रसवः का अनुभव करते हैं, जहां उन्हें आत्मानुभव मात्र तुर्यावस्था में होता है, अन्य तीन स्थितियों में नहीं।

अब अगले सूत्र में यह बतलाया गया है कि अवरः प्रसवः के बाद भी वह पुनः तुर्यामृत को तीनों स्थितियों में व्यापने में सफल हो जाता है तब क्या होता है ?

मात्रा स्वप्रत्ययसंधाने नष्टस्य पुनरुत्थानम् ।। 24।।

जब योगी अवरः प्रसवः के कारण पूर्णतः आत्मस्थ स्थिति से अलग हो चुका है तब यदि वह समाधि से बाहर आते समय प्रमेय संसार में भी जागरुकता बनाए रखे तो पुनः सर्वोच्च चेतना से एक हो सकता है।

इस जागरुकता के बारे में व्याख्या दो संदर्भों से प्राप्त होती है – सार्वभौम ईश्वर चेतना को कठिन प्रयास से प्राप्त करना चाहिए। जब आंखें कुछ भी देख रही हों, जिह्वा कुछ भी बोल रही हो, मन कुछ भी सोच रहा हो, बुद्धि कुछ भी समझ रही हो, देहाहंकार शरीर में ठहरा हो, प्रमेय संसार में कुछ भी अस्तित्व में हो चाहे न हो अर्थात् इन सबके बीच सर्वोच्च चेतना के लिए कठिन प्रयासरत् रहना चाहिए।

(स्वच्छन्द तंत्र 12 : 163–164)

स्वच्छन्द तंत्र में व्याख्यायित है कि जब कोई योगी जिसकी ईश्वर चेतना अधम तरीकों के कारण (अवर प्रसवः) नष्ट हो गई अथवा छीन ली गई है, यदि यह सोचते हुए ध्यान करता है कि यह समस्त प्रमेय संसार पूरी तरह ईश्वर चेतना से भरा है तो वह पुनः सर्वोच्च चेतना के स्तर तक पहुंच जाता है।

पुनः **स्वच्छन्द तंत्र** में उल्लेख है कि – ''शिव की शक्ति माया के द्वारा बलपूर्वक योगी का मन सांसारिक सुखों में लगा कर ईश्वर चेतना से दूर कर दिया जाता है।''

लेकिन उस भीड़ में कोई महान योगी होता है जो स्वात्म अनुभव में जागरुक रहता है। ईश्वर चेतना की स्थिति उसके लिए पूरी तरह स्थापित होती है। उसका मन कभी भी संसार के भोगों के प्रति आकर्षित नहीं होता। **(स्वच्छन्द तंत्र 4 : 311–312)**

एक और बात उस योगी के साथ होती है –

''जब उसका मन बाहर विचरता है वह अपनी चेतना को ईश्वर चेतना से बराबर जोड़े रखता है। चूंकि उसे अनुभव होता है कि परशिव सभी जगह है और वह स्वयं उससे एक है अतः उसका मन जहां कहीं भी जाता है, स्वरूप के बाहर नहीं जाता क्योंकि वह हर जगह स्वरूप के ही दर्शन करता है।''

(स्वच्छन्द तंत्र 4 : 213–214)

इसलिए जब योगी की ईश्वर चेतना प्रगाढ़ हो जाती है –

शिवतुल्यो जायते ।। 25।।

तब वह शिव के तुल्य हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि योगी शिव से एक नहीं वरन् शिव के तुल्य हो जाता है। गहनता के साथ तुर्य पर ध्यान करने से वह तुर्यातीत हो जाता है। यह योगी शिव के समान ही है – स्वात्मनिर्भर, पूर्ण चैतन्य एवं निरपेक्ष आनन्द स्वरूप।

जब तक शरीर है तब तक यह योगी शिव से एक नहीं होता क्योंकि शरीर के रहने तक वह बीमार हो सकता है, खांस सकता है, सरदर्द अथवा पेटदर्द का अनुभव कर सकता है। किन्तु परशिव को ये शरीर कष्ट नहीं होते। इसलिए योगी शरीर त्यागते ही शिव से एक हो जाता है।

श्रीकालिका क्रम शास्त्रमें उल्लेख है – ''.........अतः लेशमात्र संशय के बिना तुम्हें गुरुमुख से यह यौगिक साधना सीखनी चाहिए ताकि तुम सर्वत्र ईश्वर चेतना में प्रवेश कर सको। तुम्हें गुरु का एक–एक शब्द बिना किसी संशय के सत्य जानना चाहिए और तुम्हें ईश्वर चेतना के अनुभव का सतत् प्रयास करना चाहिए जब तक कि तुम उससे एक न हो जाओ। यह कथन शिव द्वारा स्वयं किया गया है अतः परम सत्य है।''

(श्रीकालिका क्रम शास्त्र)

जब तक भौतिक पंचभूतात्मा शरीर है तब तक चाहे वह शिवतुल्य हो गया हो, कर्मफल जिसके हेतु यह शरीर मिला है, भोगने के बाद ही समाप्त होता है उसके पहले नहीं। यही प्रारब्ध कर्म है जो भोगने पर ही नष्ट होता है। अतएव शरीरधारी के लिए प्रारब्ध भोग अनिवार्य है। चाहे वह सामान्य प्राणी हो अथवा शिवतुल्य हो चुका हो। प्रारब्ध को भोगे बिना नष्ट करना संभव नहीं।

अतः योगी को शेष जीवन यह शरीर ढोना ही है। अच्छा अथवा बुरा जो भी सामने आता है योगी सदैव उसका स्वागत करता है। उसे जो मिलता है वही खाता है। उसे अपने शरीर को मृत्यु तक बनाए जो रखना है।

अगले सूत्र में इसे ही समझाया गया है –

शरीर वृत्तिर्व्रतम् ।। 26।।

उस योगी का (शिवतुल्य योगी का) सगुण व्यवहार उसके शरीर के लिए है।

आइए, समझें सगुण व्यवहार क्या है ?

साधारण लोगों के लिए सगुण व्यवहार विशिष्ट जीवनशैली है। उदाहरण के लिए चन्द्र या सूर्य ग्रहण के समय लोग उपवास करते हैं, स्नान करते हैं, उपासना करते हैं जब तक कि ग्रहण काल समाप्त नहीं हो जाता। यह सगुण व्यवहार है।

लेकिन शिवतुल्य योगी के लिए सगुण व्यवहार मात्र शरीर में रहने के लिए है। उसके लिए सगुण व्यवहार है – बिस्तर से उठना, बाथरूम जाना, चाय पीना, टहलने जाना, भोजन, बागवानी, झपकी लेना, कमरा साफ करना आदि आदि। इन दैनंदिनी कार्यों के अतिरिक्त उसे किसी सगुण व्यवहार की जरूरत नहीं है। अतः साधारण बातचीत, चाय पीना, घूमने जाना, मनोरंजन के कार्यक्रम देखना इत्यादि भिन्न–भिन्न व्यवहार वह शेष जीवन रहते अपनाता है।

शिवतुल्य का मतलब है जिस योगी की अहंता शिव की अहंता की तरह है। उस शिवतुल्य योगी के लिए शरीर में रहना ही उसका सगुण व्यवहार है। शरीर में रहते हुए वह जो भी नित्यकर्म करता है वह परशिव की परापूजा है। उसके आसपास के साधारणजन समझते हैं कि वह एक सामान्य मनुष्य की तरह है लेकिन ऐसा है नहीं, वह तो कहीं और ही है।

ऐसे योगी के बारे में **स्वच्छन्द तंत्र** में उल्लेख है – ''जब भी अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है तो धरती पर जलाई अग्नि की ज्वालाएं जैसे आकाश में दिखाई देती हैं वैसे ही इस योगी का शरीर निम्नतर सीमित जीव की तरह होता है लेकिन वह वास्तव में ईश्वर चेतना में स्थापित होता है।''

(स्वच्छन्द तंत्र 4 : 389)

योगी ईश्वर चेतना में वैसा ही स्थापित होता है जैसे ज्वालाएं जमीन से उठकर आकाश में स्थापित होती हैं। यद्यपि अभी वह जागृत–स्वप्न–सुषुप्ति के निम्न स्तर पर रह रहा है तथापि उसे शिव में प्रवेश मिल चुका है और उसकी गतिविधियां हमारी तरह ही होती हैं। अतः यह नहीं समझना चाहिए कि वह उच्चतर चेतना में स्थित नहीं है और हमारी तरह ही है। चाहे वह ठीक हमारी तरह ही व्यवहार कर रहा हो तब भी वह और कहीं होता है – हमसे कहीं ऊपर। उसके लिए इस शरीर निर्वाह के अलावा कोई सगुण व्यवहार नहीं है।

त्रिक शास्त्रमें कहा गया है – ''जिस योगी में शरीर की भिन्न–भिन्न क्रियाओं की छाप दिखाई देती है, जैसे खाना, पीना, चलना, बोलना, विनोद करना, आराम करना आदि। वह योग की समस्त मुद्राओं का स्वामी है। अन्य योगी जो उसकी तरह नहीं है, मात्र हड्डियों के गट्ठर की तरह है।''

योगी का शरीर अस्थि एवं मांस नहीं। ईश्वर चेतना से एक होकर वह उच्चतम चैतन्य हो गया है।

परशिव की शक्ति तीन स्वरूपों में वर्गीकृत की गई है –

1. सर्वोच्च शक्ति – अघोर
2. मध्यमवर्गीय शक्ति – घोर
3. निम्नवर्गीय शक्ति – घोरतरी

निम्नवर्गीय शक्ति घोरतरी शक्ति कही जाती है। ये घोरतरी शक्तियां व्यक्ति को अज्ञान की गहराई में उतारने के प्रति प्रतिबद्ध होती हैं।

मध्यमवर्गीय शक्ति अर्थात् घोर शक्ति, व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास रोकती है और उस ईश्वर चेतना तक पहुंचने में भी बाधा पहुंचाती है।

सर्वोच्च शक्ति अर्थात् अघोर शक्ति कहलाती है जो व्यक्ति को सर्वोच्च चेतना तक ले जाने का मार्ग प्रशस्त करती है।

कुल पंचाशिका में अघोर शक्ति को इस तरह स्पष्ट किया गया है –

''ईश्वर चेतना की सर्वोच्च (अघोर) शक्ति योगी को इस तरह आच्छादित कर देती है कि वह किसी को भी योगी के रूप में नहीं जाना जाता। ये शक्तियां योगी को सर्वोच्च चेतना तक ले जाकर वहां स्थापित कर देती हैं। वह एक गोपनीय तरीके से रह कर सर्वोच्च चेतना तक जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति समाज में उच्च योगी की तरह जाना जाता है वह अघोर शक्तियों द्वारा आच्छादित नहीं होता है। अघोर शक्तियां उससे दूर ही रहती हैं तथा वह ईश्वर चेतना से दूर कर दिया जाता है।''

अघोर शक्तियों से आच्छादित योगी के बारे में जब समाज में बातें होती हैं तो लोग कहते हैं कि वह तो सामान्य लोगों जैसा ही है। उन्हीं की तरह खाता–पीता एवं इन्द्रियजन्य भोगों में लिप्त रहता है। अतः सामान्य आदमी ही है।

एक योगी की दृष्टि से यही उचित है कि वह अपने व्यवहार से सामान्यजन ही प्रतीत हो। उसे अपनी उपलब्धि को सदैव गुप्त ही रखना चाहिए। यदि वह अपनी उपलब्धि संसार को बता देता है तो वह ईश्वर चेतना से दूर कर दिया जाता है। यही योग में उन्नति का रहस्य है।

यहां तक कि योगी के शिष्यों को भी गुरु के बोध की गहराइयों का आभास तक नहीं होता। गुरु को भी चाहिए कि वह अपनी बोध की गहराई को शिष्यों से छिपाकर रखे। उन्हें और किसी को भी यह आध्यात्मिक उन्नति कभी नहीं बताना चाहिए और स्वयं के भीतर ही छिपाए रखना चाहिए। शिष्य को भी चाहिए कि वह गुरु में पूर्ण आस्था बनाए रखे। शिवसूत्र का यही तरीका है।

ऐसे योगी के लिए –

कथा जपः ।। 27 ।।

जीवन की साधारण बातचीत (उस योगी के लिए) मंत्र का जाप है।

जब वह योगी तुम्हारे साथ हंसता है, तुम्हारे गले में बांह डाल देता है या रंगमंच पर नाटक देख रहा होता है, तब वह हर हाल में मंत्र जाप कर रहा होता है। साधारण बातचीत उसके लिए मंत्र है क्योंकि बातचीत करते समय ईश्वर चेतना की भरपूरता को वह जागरुकता से अनुभव करता है। वह सदा एवं सतत् ईश्वर चेतना में डूबा हुआ होता है। **(स्वच्छन्द तंत्र)**

कालीक्रम शास्त्रमें भी यही कहा गया है – ''उसके लिए जो सर्वोच्च चेतना से एक है (One with that supreme cognitive state of the lord)। सर्वोच्च शक्ति विमर्श है जो पूर्ण ज्ञान से जगमगा रही है।''

कालीक्रम में यह भी कहा गया है कि जो योगी अकृत्रिम विमर्श में स्थापित है उसके लिए साधारण बातचीत जो स्वस्फूर्त प्रकट होती है, आत्ममंत्र का जप होती है।

विज्ञान भैरव तंत्र में यह कथन है – ''जागरुकता को ईश्वर चेतना में निर्बाध स्थापित करना मंत्र का वास्तविक जप है। इस जप से जो सर्वोच्च प्रमातृता से एक है, सर्वोच्च अहंता (सर्वाहन्ता) स्वयं प्रकट होती है। **(विज्ञान भैरव 145)**

पुनः यह कहा गया है – ''बाहर निकलते समय वह (श्वास) ''सा'' का उच्चारण करता है तथा भीतर लेते समय ''हा'' का उच्चारण करता है। इस तरह वह लगातार हंसः का जाप करता है। यही सोऽहं जप है। **(विज्ञान भैरव 155)**

विज्ञान भैरव में यह भी उल्लेख है –

''...... एक दिन रात में वह 21600 बार मंत्र जाप करता है। यह मंत्र सर्वोच्च चेतना का जाप है और जो लोग जागरुक हैं, उनके लिए आसान है। जो असावधानी में जीते हैं उनके लिए बहुत कठिन है।''

(विज्ञान भैरव 156)

ऐसे जप (अजपा गायत्री) में संलग्न योगी की दिनचर्या कैसी है ?

दानमात्मज्ञानम् ।। 28 ।।

ऐसे योगी का शरीर में रहने का एकमात्र उद्देश्य अपने स्वयं के ज्ञान को दूसरों (शिष्यों) तक पहुंचाना है।

संस्कृत शब्द दान के कई अर्थ हैं। जब यह योगी, जो ईश्वर चेतना से एक हो चुका है, जो कुछ भी अपने भीतर देखता या अनुभव करता है, उसके लिए दान है। दान का यह अर्थ भी है कि जो अनुभव उसे ईश्वर चेतना की पूर्णता का अनुभव देते हैं उसके लिए दान है।

भिन्नता के अनुभव का नाश भी दान है। भ्रम नष्ट होने के पश्चात् जो बच रहता है अर्थात् जो एकता का एहसास, अभिन्नता का एहसास बच रहता है वह भी योगी का दान है।

यह वह स्थिति है जहां उसकी ईश्वर चेतना की स्थिति सतत् सुरक्षित रहती है। इसी तरह शेष जीवन वह व्यवहार करता है।

ये परिभाषाएं व्यक्ति (योगी) के सन्दर्भ में है। दान से एक और तात्पर्य यह है कि ''जो औरों को दे दिया जाए'' वह दान है। अतः उसके योग्य शिष्यों को योगी से जो ज्ञान मिलता है वह दान है। यही बात मंत्रों में भी उल्लेखित है।

महान योगी जो ''कुल'' परम्परा में स्थापित हैं, महज छूकर या दृष्टि डालकर ईश्वर चेतना का ज्ञान दूसरों को दे देते हैं। इस तरह उसके शिष्य जन्म–मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाते हैं। सत्य तो यह है कि जो स्वयं शिव–स्वरूप हो गया है तथा दिनचर्या में 'अजपा जप' करने में ही व्यस्त हैं साथ ही अपने शक्ति चक्र का स्वामी है वही दूसरों को बोध दे सकता है। (जो शिव–स्वरूप हो गया है, शरीर छोड़ते ही शिव से एक हो जाता है)

इसकी व्याख्या अगले सूत्र में इस तरह की गई है –

योऽविपस्थो ज्ञाहेतुश्च ।। 29 ।।

''जो शक्ति चक्र पर शासन करता है वह दूसरों में ज्ञान प्रविष्ट करने का हेतु यानि कारण होता है।''

जो योगी शक्ति चक्र का विजेता है वह इन शक्तियों का खिलौना नहीं बनता। शक्ति चक्र दो भागों में वर्गीकृत है : ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियां एवं कर्मेन्द्रियों की शक्तियां। यह योगी इन दोनों तरह की शक्तियों का खिलाड़ी है। ये शक्तियां जैसे एक सामान्यजन के साथ खेलती हैं, उस योगी के साथ नहीं खेलतीं। सामान्यजन के लिए ये शक्तियां जो भी इच्छा करती हैं, व्यक्ति उनका पालन करने को मजबूर हो जाता है किन्तु योगी के साथ ऐसा नहीं है। योगी सदैव इन शक्तियों को नियंत्रण में रखता है और इस तरह योगी वास्तविक ज्ञान को अन्य लोगों में प्रविष्ट करवाने का कारण बन जाता है। यही इस सूत्र का तात्पर्य है।

जो अज्ञानी हैं उनको ये शक्ति चक्र स्वाद, स्पर्श, रूप इत्यादि की पूर्ति कर रक्षा करते हुए से प्रतीत होते हैं लेकिन वास्तव में ये शक्ति चक्र रक्षा नहीं करते अपितु अज्ञानी को इन्द्रिय सुख देकर उस पर शासन करते हैं।

आणवोपाय के 19वें सूत्र में कहा गया है कि ये शक्तियां अज्ञानी व्यक्ति की माताएं कहीं गई हैं जिन्हें माहेश्वर्यादि से सम्बोधित किया गया है। माहेश्वर्यादि शक्ति चक्रम् से तात्पर्य है वे शक्तियां माहेश्वरी, गोचरी, खेचरी, दिग्चरी, भूचरी इत्यादि जो जैविक क्षेत्र से संबंधित हैं।

योगी इन शक्तियों का स्वामी हो जाता है अर्थात् उन शक्तियों द्वारा खेला नहीं जाता अपितु वह उन शक्तियों के साथ खेलता है और दूसरों में ज्ञान प्रविष्ट करने का कारण बन जाता है।

वर्तमान सूत्र में ''ज्ञा'' का अर्थ है ज्ञान शक्ति। योगी के जो शिष्य हैं उनके लिए वह ज्ञान का स्रोत हो जाता है तथा शिष्यों को ज्ञान देने में सक्षम हो जाता है।

जो व्यक्ति शक्तिचक्र से प्रभावित है अर्थात् जो स्वयं की इन्द्रियों पर निर्भर है वह स्वयं की रक्षा कैसे करेगा? वह तो इन्द्रियों की इच्छापूर्ति के लिए मजबूर है तब दूसरों का उत्थान कैसे करेगा? यह असंभव है।

इस सूत्र में संस्कृत शब्द 'यो' सर्वनाम यत् से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है जो (Who) और संस्कृत में जहां 'यत्' है वहां 'तत्' का होना भी जरूरी है तब ही वाक्य पूरा होता है। अतः योऽयम् अविपस्थः (वह जो शक्तिचक्र पर शासन करता है) स (वह गुरु/योगी) ज्ञान प्रबोधन हेतु (दूसरों में ज्ञान प्रविष्ट करने का कारण हो जाता है)। यही बात स्पष्ट रूप से 28वें सूत्र में कही गई है – ''दानमात्मज्ञानम्''

कुछ व्याख्याकार इस सूत्र की व्याख्या दूसरी तरह से करते हैं जो इस प्रकार है –

यो	=	योगीन्द्र (Foremost Yogi)
वि	=	विज्ञानम् (Knowledge)
प	=	स्थिति (State)
स्थ	=	स्थित (Established in that state)
ज्ञा	=	जो जानता है (One who knows that)
हे	=	हेयः (त्याज्य) (To be abandoned)
तु	=	तुच्छ (भिन्नता का ज्ञान)
:	=	विसर्ग शक्ति (Creative energy)
च	=	जो यह करता है (यहां च अर्थात् और नहीं है)

इस प्रकार सूत्र का अर्थ हुआ ''योगीन्द्र'' जो विमर्शशक्ति (जागरुकता से), स्वरूपात्मविज्ञान पदस्थः अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित हुआ ज्ञाता और कर्ता बन जाता है। वह भेद कर लेता है कि क्या पाना है और क्या त्यागना है। इस तरह वह पाने और त्यागने का कार्य कर लेता है।

महाराज लक्ष्मण जू के अनुसार यह व्याख्या सही नहीं है और **क्षेमराजजी** को इसे सम्मिलित नहीं करना चाहिए था।

स्वशक्ति प्रचयोऽस्य विश्वम् ।। 30।।

ऐसे योगी के लिए सारी सृष्टि स्वयं की शक्तियों का संग्रह मात्र है।

उसे यह बोध होता है कि यह सृष्टि उसकी शक्तियों का ही स्वरूप है (उनसे अलग नहीं) इस तरह वह शिव की तरह हो जाता है और विश्व उसकी शक्ति । वह योगी सार्वभौम ईश्वर चेतना से एक हो जाता है और विश्व उसका अपना विस्तार।

मृत्युंजिद्भट्टारक ने कहा है – ''शिव ज्ञान से भरे हैं और वह ज्ञान असीम है। वास्तविक ज्ञान सार्वभौम ज्ञान है। जो ज्ञान सीमित ज्ञान से मुक्त कर दे उसे ''नेत्र'' कहते हैं। असीम सृष्टि के ज्ञान का एक वर्ग अथवा एक हिस्सा पकड़े रहने से तुम बंध जाते हो। जब तुम्हारा गुरु तुम पर सार्वभौम ज्ञान उद्घाटित कर देता है तब तुम सीमाओं से बाहर आ जाते हो और विश्वसत्ता तुम्हारी अपनी सम्पत्ति हो जाती है। सृष्टि को स्वयं का विस्तार जान लेना ही वास्तविक ज्ञान है। यही नेत्र है और यही मुक्ति है।''

(नेत्र तंत्र 9:12)

यदि तुम ज्ञान के एक वर्ग को ही चुन लेते हो और उसे पकड़े रहते हो तो यह अज्ञान है लेकिन सृष्टि को स्वयं की आत्मा की भांति देखते हो तो तुम मुक्त हो।

कालीक्रम में भी कहा गया है – ''ज्ञान सब जगह है। बाहर भी और भीतर भी क्योंकि बिना ज्ञान के कोई वस्तु अस्तित्व में आ ही नहीं सकती। अतः सृष्टि ज्ञान से परिपूर्ण है। वह ज्ञान चाहे वस्तुगत ज्ञान हो, सचमुच ईश्वर चेतना का ज्ञान है।

कोई भी, कभी भी उस ज्ञान के बिना किसी वस्तु का संज्ञान नहीं ले सकता। उस सार्वभौम ज्ञान ने ही तो वस्तु का रूप ले रखा है। अतः कोई वस्तु/प्रमेय ईश्वर चेतना से पृथक नहीं है और ईश्वर चेतना का ज्ञान तथा वस्तु का ज्ञान भी भिन्न नहीं है। ईश्वर चेतना के ज्ञान से ही वस्तु का ज्ञान सम्पन्न हो पाता है। यदि तुम्हारा विचार है कि योग के द्वारा ईश्वर चेतना का ज्ञान प्राप्त करना है तथा उससे इतर ज्ञान को त्यागना है तब तुम ठीक से समझे ही नहीं। सच्ची समझ तो यह है कि तुम्हें दोनों ज्ञानों को मिला देना चाहिए क्योंकि दोनों अलग नहीं है। अर्थात् प्रमातृ चेतना एवं प्रमेय चेतना को मिला देना चाहिए। ज्ञान की यह वस्तविकता, ईश्वर चेतना की वास्तविकता दोनों प्रमेय संसार में व्याप्त हो जाती हैं क्योंकि ध्यान के द्वारा ये दोनों सार्वभौम चेतना से एक हो जाते हैं। जब तक तुम यह ध्यान करते हो कि यह प्रमेय संसार ईश्वर चेतना से भिन्न नहीं है तब तक यह ईश्वर चेतना की तरह ही हो जाता है और तुम ईश्वर चेतना एवं प्रमेय चेतना में अन्तर नहीं पाते। जब तुम एक साथ दोनों तरह के ज्ञान को पाते हो तब ज्ञान एवं ज्ञाता का भेद मिट जाता है। ज्ञान ही ज्ञाता है और ज्ञाता ही ज्ञान है। **(कृम स्तोत्र)**

न केवल यह सृष्टि उसकी शक्ति का विस्तार है अपितु अनुभव, अंतरिक्ष एवं शून्य भी उसी शक्ति का विकास है –

स्थितिलयौ ।। 31 ।।

सृष्टि में बहिर्मुखता के जो अनुभव हैं जैसे वस्तुओं का ज्ञान, भावनात्मक धारणाएं, मान्यताएं तथा इनका लय अथवा समाप्त हो जाना भी उसकी भाक्तियों का विस्तार ही है।

मात्र संसार का निर्माण ही उसकी शक्तियों का विस्तार नहीं है वरन् संसार का मन पर प्रभाव (स्थिति) तथा ध्यानादि में उस प्रभाव का विलीन हो जाना (लय) भी उसकी शक्तियों का ही विस्तार है। इस प्रकार –

1. सृष्टि दशा = ईश्वर चेतना से सृष्टि का निर्माण
2. स्थिति दशा = सृष्टि का अनुभव
3. लय दशा = जब ये अनुभव शून्य हो जाते हैं जैसे मृत्यु के समय, बेहोशी में अथवा प्रगाढ़ निद्रा में

इन तीनों अवस्थाओं में ईश्वर चेतना बनी रहती है। ईश्वर चेतना के बिना कोई भी वस्तु, अनुभव या अनुभव शून्यता अस्तित्व में नहीं रह सकती। अनुभव शून्यता में भी शुद्ध ईश्वर चेतना बनी रहती है। ईश्वर चेतना किसी भी अस्तित्व में अनुपस्थित नहीं होती।

क्रियाशक्ति द्वारा पहले यह सृष्टि प्रकट होती है तदनन्तर प्रमेय चेतना में इसका प्रभाव तुम्हारे मन पर बना रहता है, यही स्थिति है। प्रमेय चेतना में स्थित यह प्रभाव भी विलीन हो जाता है और शून्यावस्था शेष रहती है जहां ''कुछ नहीं'' है और यह ''कुछ नहीं'' भी ईश्वर चेतना में ही स्थित है। यही लय है।

उच्च स्तरीय योगी के लिए ये दोनों स्थितियां (स्थिति एवं लय) उसकी शक्ति का विस्तार है और कुछ नहीं। उसके लिए यह प्रमेय संसार चाहे भोग–विलास के रूप में हो, चाहे मन पर पड़े प्रभाव के रूप में हो, चाहे मन पर पड़ा प्रभाव दूर हो जाए, तीनों ही स्थितियां उसकी ईश्वर चेतना का विस्तार मात्र है।

यदि यह तिहरा संसार ईश्वर चेतना में न हो तब मन पर प्रभाव नहीं पड़ेगा। न ही उस प्रभाव से प्रमेय संसार बनेगा।

उदाहरण के लिए जब तुम सोते हो और स्वप्नावस्था में प्रवेश करते हो तत्पश्चात् प्रगाढ़ निद्रा में प्रवेश करते हो और कुछ समय उपरान्त उठ बैठते हो। इन तीनों अवस्थाओं में ईश्वर चेतना बनी रहती है अन्यथा इन तीन अवस्थाओं की यात्रा तुम एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाते हुए कैसे कर सकते थे ? किन्हीं भी दो स्थितियों के मध्य अन्तराल होता ही है। जब एक स्थिति का अन्त होता है और दूसरी स्थिति का आरम्भ होता है तब इस अन्तराल में ईश्वर चेतना यदि न होती तो एक संसार से दूसरे संसार (जैसे स्वप्न से सुषुप्ति) में प्रवेश कैसे करोगे? जीवन की निरन्तरता बनाए रखने के लिए ईश्वर चेतना की निरन्तरता भी आवश्यक है।

यदि यह निरन्तरता न होती तो नींद से स्वप्न अथवा जागरण की यात्रा के दौरान तुम्हारा अस्तित्व ही नहीं रहता और न ही स्वप्नावस्था अथवा निद्रा के पूर्व की स्मृतियां ही शेष रहती।

कालीक्रम में कहा गया है – ''जो कुछ अस्तित्व में है अथवा जो कुछ अस्तित्व में नहीं है, यह भिन्नता का अस्तित्व तथा दोनों (अस्तित्वगत एवं अस्तित्वहीन) का रिश्ता भी ईश्वर चेतना द्वारा ही सम्पन्न होता है।

यह सम्पूर्ण सृष्टि पूरी तरह शुद्ध है। बिना किसी सहारे के तथा चेतना के ज्ञान से परिपूर्ण है। जब किसी के लिए आत्मा की यह चेतना उद्घाटित होकर अनुभव में आती है तब उसी क्षण वह जीवनमुक्त हो जाता है। **(कालीक्रम शास्त्र)**

यह सूत्र दर्शाता है कि यह सृष्टि मात्र उसी का गौरव है। न केवल संसार बनाने में अपितु उसकी रक्षा एवं संहार में भी मात्र उसी का गौरव है। अब प्रश्न उठता है कि जब तीनों स्थितियों में मात्र उसी का

गौरव है तो उसकी प्रकृति परिवर्तनशील है? तीनों स्थितियों (सृष्टि – स्थिति – संहार) में उसकी तीन तरह की प्रतीति होती है। यदि उसके अस्तित्व की स्थिति बदलती है तो उसकी प्रकृति भी स्थिर नहीं रहेगी। अगला सूत्र इसी प्रश्न का उत्तर देता है –

तत्प्रवृत्तावप्यनिरासः संवेत्तृभावात् ।। 32।।

यद्यपि वह सृष्टि – स्थिति – संहार के प्रति कृतसंकल्प है तथापि वह अपने प्रमातृभाव से अलग नहीं है। तीनों स्थितियों में उसका प्रमातृभाव एक सा रहता है। वह अपनी ''ज्ञाता'' की स्थिति से कभी अलग नहीं होता है जिस ज्ञाता की स्थिति में चमत्कार (तुर्य के आनन्द) से एक होता है। यह प्रमातृता ज्ञाता की वास्तविक स्थिति है और इस वास्तविक स्थिति से इन तीन क्रियाओं को करते हुए भी वह कभी अलग नहीं होता।

यदि इन तीन क्रियाओं को करते समय वह आत्मा के सत्य अर्थात् चेतन से अलग होता है तो इन तीन स्थितियों का अस्तित्व ही नहीं हो सकता था। इन तीनों स्थितियों (सृष्टि–स्थिति–संहार) का अस्तित्व ज्ञाता की चेतनाशक्ति से ही संभव होता है।

कालीक्रम शास्त्र में उल्लेख है – ''अज्ञान का नाश हो जाता है लेकिन अस्तित्व का नाश नहीं होता क्योंकि अस्तित्व रचना या संहार से परे है। स्व अथवा अस्तित्व का न तो जन्म होता है और न ही नाश। अतः जब वह सृष्टि से अभेदावस्था में है तो कुछ नाश नहीं हुआ।

ऐसा समझा जाता है कि अज्ञान पैदा हुआ और अज्ञान का नाश हुआ लेकिन सत्य के ज्ञान के बिना अज्ञान का अस्तित्व भी नहीं रह सकता। अतः अज्ञान भी पैदा या नष्ट नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह सत्य से एक है। जब सत्य की प्रकृति ऐसी है कि न इसकी रचना होती है और न ही नाश तो सृष्टि–स्थिति–संहार में यह कैसे नष्ट हो सकता है। **(कालीक्रम शास्त्र)**

स्पन्दकारिका में उल्लेखित है – '' दो स्थितियां हैं कर्ता एवं कर्म की। इनमें कर्म का नाश हो जाता है, कर्ता कभी नष्ट नहीं होता। कर्म करने की शक्ति का लोप हो जाता है तब अज्ञानी व्यक्ति कहता है ''मेरा नाश हो गया।'' **(स्पन्दकारिका 1:14–15)**

उदाहरण के लिए एक युवती एक बच्चे को जन्म देती है। यह बच्चा प्रमेयता के प्रति किए गए प्रयास का परिणाम है। यदि बच्चे की मृत्यु हो जाती है तो वह युवती यह क्यों कहे कि वह (स्वयं) नष्ट हो गई। वह कभी नष्ट नहीं हुई। लेकिन ऐसे समय अज्ञानी लोग सोचते हैं कि वे भी नष्ट हो गए।

''किसी अन्य की अनुपस्थिति में तुम नहीं कह सकते कि अन्तर्मुखी अवस्था नष्ट हो गई। यदि अज्ञान में तुम सत्य के प्रति अनभिज्ञ हो तो तुम यह नहीं कह सकते कि सत्य नष्ट हो गया। मात्र तुम नहीं जानते इसलिए उस ज्ञान से दूर हो।'' **(स्पन्दकारिका 1:16)**

ऐसे योगी के लिए –

सुखदुःखयोर्बहिर्मननम् ।। 33।।

वह अपने सुख और दुःख को वस्तु की तरह देखता है। वह सुख–दुःख को ''यह'' की तरह अपने अस्तित्व से बाहर देखता है (ईश्वर प्रमातृता)। मैं दुःखी हूं यह उसका अनुभव नहीं होता वरन् यह दुःख है, ऐसी उसकी दृष्टि होती है। जैसे यह एक बर्तन है, यह एक पेड़ है वैसे ही वह सुख–दुःख को भी देखता है।

योगी के लिए ये सुख–दुःख ज्ञात की तरह छुए जाते हैं, ज्ञाता को ये स्पर्श नहीं करते। उसका अनुभव – मैं खुश हूं या मैं परेशान हूं ऐसा नहीं होता वरन् ''सुख एवं दुःख दोनों में मैं आत्मस्थ हूं'' ऐसा वह अनुभव करता है।

आणवोपाय के 30वें सूत्र में जैसा कि कहा गया है –''उस योगी के लिए यह सृष्टि उसकी (स्वयं की) शक्तियों का स्वरूप है।'' अतः उस योगी के लिए यह सृष्टि उसकी शक्ति का विकास है। इस व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि वह योगी सृष्टि को प्रमातृ (स्व) की तरह अनुभव करता है तथा स्वयं के व्यक्तित्व (Individuality) को प्रमेय की तरह देखता है क्योंकि वह कभी एक पृथक व्यक्ति नहीं अपितु सार्वभौम अस्तित्व हैं। यदि वह पृथक व्यक्ति की तरह अनुभव करता है तो वह उदास, दुःखी हो जाएगा।

यहां सुख–दुःख संसार के सारे अनुभवों के प्रतीक हैं। व्यक्तिगत चेतना की स्थिति में उसे सारा संसार ''यह'' की तरह प्रतीत होता है तथा सुख–दुःख से एकता प्रतीत होती है लेकिन सार्वभौम चेतना की स्थिति में सब सृष्टि स्व की तरह प्रतीत होती है। ''मैं सब कुछ हूं'' क्योंकि योगी ने प्रमातृ भाव का संबंध जाग्रतावस्था में पुर्याष्टक से अलग कर लिया है। (यहां पुर्याष्टक का मतलब स्वप्नावस्था के पुर्याष्टक अंतःकरण+तन्मात्राएँ से ही नहीं है वरन् जाग्रतावस्था, शून्यावस्था एवं सुषुप्ति में देह से भी है) ऐसे में वह सुख–दुःख से कैसे प्रभावित हो सकता है।

श्री प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या में भी कहा गया है – ''जिन योगियों ने वैयक्तिकता की सीमाओं को लांघ लिया है तथा सार्वभौम अवस्था प्राप्त कर ली है। यद्यपि वे दैनिक जीवन में सुख–दुःख का अनुभव करते हैं तथापि ये अनुभव उन्हें प्रभावित नहीं करते।

सुख–दुःख वैयक्तिकता में ही प्रभाव दिखाते हैं और जब वैयक्तिकता को समाप्त कर दिया गया है तब ये निष्प्रभावी हो जाते हैं। सुख–दुःख के अवसर पर भी इस योगी को सर्वोच्च आनन्द की अनुभूति होती है।

स्पन्दकारिका में भी यह कहा गया है – ''परम सत्य की स्थिति उस सार्वभौम अवस्था में रहती है जहां न दुःख है, न सुख, न प्रमेय है न प्रमाता और न ही इनका विलोम। **(स्पन्दकारिका 1:5)**

जो योगी वैयक्तिक देह प्रमातृता को पार कर गया है वह कभी दुःख–सुख से प्रभावित नहीं होता । अतः –

तद्विमुक्तस्तु केवली ।। 34 ।।

सुख–दुःख के पाश से मुक्त होकर वह वास्तविक एकान्त में स्थित हो जाता है।

अब समझते हैं कि वास्तविक एकान्त क्या है? यह वह स्थिति है जहां ''मैं हूं'' सृष्टि में व्याप्त हो जाता है तथा 'यह है' का भाव नष्ट हो जाता है। जब तुम ''मैं'' में स्थित होते हो तो ''यह'' नष्ट हो जाता है। ''यह'' भी ''मैं'' में समाहित हो जाता है। यही केवली भाव है जहां बस ''मैं'' है और कुछ नहीं।

उपनिषदों में भी कहा गया है – ''..........आरम्भ में केवल वह था। चूंकि और कोई नहीं था, उसे डर लगने लगा..............''

उपनिषद हमें बताते हैं कि जो लोग अकेले होते हैं उनमें डर व्याप जाता है। यह द्वितीय ब्रह्म की स्थिति है। डर तब लगता है जब ''यह'' का भाव अलग कर दिया जाता है। जब ''यह'' का भाव समाहित कर लिया जाता है तब तुम एकमात्र हो और डर का कोई कारण नहीं। यही भाव केवल शब्द से निरूपित होता है। जो सुख–दुःख से मुक्त है वह पूरी तरह ईश्वर चेतना में स्थापित है।

कालीक्रम में उल्लेखित है – ''वे सारी स्थितियां, सुख–दुःख की अनुभूति की एवं उनसे जुड़े विचारों की मात्र कल्पना से उत्पन्न होती है। यह भेद ही द्वैत का भ्रम है। यहां दो विरोधी स्थितियों को तुम अलग–अलग कर देते हो। सुख को दुःख से अलग कर देते हो। सुख को प्राप्त करने की कल्पना एवं दुःख को दूर रखने की कल्पना, जो योगी इस भ्रम को समाप्त कर देता है, उसे योग का वास्तविक फल मिलता है। **(कालीक्रम स्तोत्र)**

इस सूत्र में शब्द 'तु' भेद करने के संदर्भ में नहीं है वरन् सर्वोच्चता बताता है। अर्थात् वह वैयक्तिकता के स्तर से ऊपर है।

और अब अगले सूत्र में वैयक्तिकता (जो इस स्थिति की विलोम है) की व्याख्या की जाती है।

मोह प्रतिसंहतस्तु कर्मात्मा ।। 35 ।।

जिस योगी की ईश्वर चेतना भ्रमवश नष्ट हो गई है वह उसके कर्मों के द्वारा शासित होता है।

मोहवश जब ईश्वर चेतना नष्ट होकर भिन्नता के ज्ञान में योगी गिर जाता है तब उसके कर्मफल उसे खिलौना बना लेते हैं। वह एक साधारण मनुष्य हो जाता है। वह योगी होने के योग्य नहीं रह जाता है। भिन्नता के ज्ञान में गिरा योगी सोचता है – ''यह दुःख है, यह ठीक नहीं'', ''यह सुख है, यह ज्यादा ठीक है'', ''मेरी नौकरी अच्छी है'', ''मेरी नौकरी जाती रही, मैं बहुत दुःखी हूं।''

संस्कृत शब्द मोह का अर्थ है अज्ञान । प्रतिसंहतः का तात्पर्य है ''जो अज्ञान के कारण सीमित हो गया है''। वह सुख–दुःख का खिलाड़ी नहीं है। भ्रम के कारण सीमित हो जाने से वह सुख–दुःख के हाथों खिलौना बन जाता है। वह कर्मात्मा कहलाता है और वह कर्मों पर निर्भर रहता है। कर्म ही उसका नियंत्रण करते हैं। वह सदा अच्छे बुरे कर्मों से कलंकित रहता है।

कालीक्रम शास्त्रमें कथन इस प्रकार है–

''जब योगी ईश्वर चेतना बनाए नहीं रखता तथा भिन्नता के ज्ञान में गिर जाता है तब शिव से पृथ्वी तक के छत्तीस तत्वों में एक जैसी दृष्टि नहीं रख पाता। उसे मात्र अच्छा अथवा बुरा ही दिखाई देता है यह दुर्भाग्यपूर्ण है। यह भिन्नता का अनुभव महान दुःख का कारण है। इस तरह यह योगी बहुत दुर्भाग्यशाली कहा जाएगा। **(कालीक्रम शास्त्र)**

यद्यपि वह कर्म पाश में बंधा है तथापि शिव की अहैतुक कृपा से वह पुनः योग मार्ग पर स्वतंत्रता से आरूढ़ हो सकता है। तब –

भेदतिरस्कारे सर्गान्तरकर्मत्वम् ।। 36।।

अर्थात् तब वह भिन्नता के ज्ञान का तिरस्कार कर ईश्वर चेतना के नए संसार में प्रवेश करता है तथा विश्व सृष्टि एवं संहार की क्षमता पा लेता है।

''वह भिन्नता के ज्ञान को दूर कर देता है'' इसका तात्पर्य यह है कि इस योगी से (प्रमातृ से) भिन्नता के अनुभव दूर कर दिए जाते हैं। यह प्रमातृ वह है जो सकल एवं प्रलयाकल स्थिति में रहता है क्योंकि उसने अपनी अहंता के सापेक्ष शरीर प्राण, पुर्याष्टक एवं शून्य का निरूपण किया है न कि ईश्वर चेतना के सापेक्ष।

''तिरस्कारे'' का अर्थ है ''दूर कर देता है''। इससे तात्पर्य यह नहीं है कि वह भिन्नता के ज्ञान की पूरी तरह उपेक्षा कर देता है अपितु यह है कि वह मन से भिन्नता के ज्ञान को निकाल देता है। हालांकि भीतरी तौर पर वह वो सब करता है जो अन्य लोग करते हैं लेकिन वह भेदज्ञान से लिप्त नहीं होता। यद्यपि वह भेदज्ञान में रहता है तथापि ईश्वर चेतना प्रबल होकर उसके भेदज्ञान को लुप्त कर देती है।

अब वह भिन्नता के ज्ञान को भेद कर क्रमशः मंत्र प्रमाता, मंत्रेश्वर प्रमाता तथा मंत्र महेश्वर प्रमाता के क्षेत्र में प्रवेश करता है। ये प्रमातृताएं उत्तरोत्तर शुद्ध विद्या, ईश्वर तथा सदाशिव की स्थितियां हैं।

शुद्ध विद्या – मन्त्र प्रमाता

ईश्वर – मन्त्रेश्वर प्रमाता

सदाशिव — मन्त्र महेश्वर प्रमाता

यहां उसकी ईश्वर चेतना का गौरव उसे प्राप्त हो जाता है। तब पूर्व की अधम व्यक्तिगत चेतना को छोड़कर ईश्वर चेतना के नए संसार में प्रवेश करता है जहां उसके इच्छा करने मात्र से इच्छा पूर्ण हो जाती है। यह बात स्वच्छन्द तन्त्र में इस प्रकार प्रकट है –

''जब तुम अपनी सजगता मात्र दो में नहीं अपितु तीन में स्थिर कर देते हो तब तुम ईश्वर चेतना को पाकर स्वच्छन्द भैरव से एक हो जाते हो।

(स्वच्छन्द भैरव वह स्थिति है जो स्वातंत्र्यशक्ति से पूर्ण है)

तिहरी सजगता का क्या अर्थ है? दो की सजगता का अर्थ है दो क्रियाओं की सजगता जैसे श्वास–प्रश्वास लेकिन तिहरी सजगता इनकी संधि की होती है। दोनों क्रियाओं के बीच का अन्तराल जब सजगता में शामिल हो तब तिहरी सजगता होती है। उदाहरणार्थ – एक कदम और दूसरे कदम के बीच का संधिकाल, एक विचार एवम् दूसरे विचार का अंतराल, एक संवेदना और दूसरी संवेदना के बीच का समय। जब तुम तीन केन्द्रों की सजगता बनाए रखते हों तब स्वच्छन्द तक पहुंच जाते हो। स्वच्छन्द को 'भैरवनाथ' भी कहते हैं। यहां भेदज्ञान का अस्तित्व ही नहीं रहता।

इसी तंत्र में यह भी कहा गया है – ''वह इतना महान हो जाता है कि उससे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, सिद्ध, दैत्य आदि भयभीत होने लगते हैं। उससे गरुड़राज भी भयभीत हो जाते हैं। लेकिन यदि यह योगी उनसे प्रसन्न होता है तब उनका भय दूर कर देता है। वह श्राप दे सकता है तथा वरदान भी दे सकता है। यमराज भी उसके सामने खड़ा नहीं रह सकता। इच्छा करते ही वह पर्वत को भी समतल कर सकता है।''

(स्वच्छन्द तंत्र 6:54–55)

ऐसा करना उसके लिए कठिन नहीं है क्योंकि –

करणशक्तिः स्वतोऽनुभवात् ।। 37 ।।

रचनात्मकता की शक्ति हर व्यक्ति का निजी अनुभव होता है। स्वप्न के समय अथवा कल्पना करते समय व्यक्ति रचना एवं नष्ट करने की क्षमता का अनुभव करता है। **(करणशक्ति)**

व्यक्ति जब नशे में होता है तब स्वयं को राजा मान सकता है। सोच सकता है कि उसे कोई नहीं हरा सकता। यह उस स्थिति की धारणा होती है। अथवा जब तुम स्वप्न देख रहे हों तब एक मोटरकार की रचना कर सकते हो जिसमें बैठकर एक राह पर पेड़ों के बीच गाड़ी चला रहे हो। यहां ये पेड़ भी तुम ही हो, राह भी तुम ही हो और मोटरकार भी तुम ही हो। यदि रास्ते में कोई व्यक्ति कार को रोकता है तो रोकने वाला भी तुम ही हो। इन सबका निर्माण तुम ही से हुआ है। वहां और कोई तो है ही नहीं। रचना भी

तुम हो, रचित भी तुम ही हो साथ ही रचनाकार भी तुम ही हो। स्वप्न संसार में सारी सृष्टि तुम ही हो। इस तरह रचनात्मकता का निजी अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को होता है।

इसी प्रकार इस योगी का अनुभव सृष्टि निर्माण का होता है। तुम्हारी अपनी रचनात्मकता का अनुभव तुम्हें स्वप्न जगत में होता है जो तुम जाग्रतावस्था में नहीं कर सकते।

प्रत्यभिज्ञाकारिका इस विषय पर यूं प्रकाश डालती है – ''एक व्यक्ति के जैसे विचार हैं, उसके अनुसार उसके पास ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति होती है।'' **(ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका 1:6:11)**

इस तरह जब यह सिद्ध हो गया कि रचना एवं नाश की शक्ति (करणशक्ति) स्वतः ही उपस्थित रहती है तब जब वह तीव्र जागरुकता से इच्छा करता है तब वह इच्छा जाग्रतावस्था में भी पूरी हो जाती है। वह अपनी इच्छा का संसार जाग्रतावस्था में बना सकता है। स्वप्न का संसार तो वह स्वयं ही महसूस कर सकता है लेकिन जाग्रतावस्था में बना संसार ऐसा है जिसे अन्य लोग भी देख एवं महसूस कर सकते हैं।

तत्वगर्भ में कहा गया है – ''जब ये योगी जो स्वप्न एवं कल्पना के संसार के स्वामी हैं, जागरुकता की कमी को नकार कर जागरुकता को तीव्र कर लेते हैं तब उनकी इच्छापूर्ति कल्पवृक्ष के समान पूरी हो जाती है।''

ये योगी शिवतुल्य हो जाते हैं। इस शक्ति का सार स्वातंत्र्य शक्ति है जो प्रमाता का सार है एवं तुर्य से एक है। यह निरपेक्ष स्वातंत्र्य ही है जो तुम्हें इस ऊंचाई तक ले जाता है। यह स्वातंत्र्य भेदज्ञान (माया – illusion) के कारण मद्धिम हो गया है जिसे पुनः प्राप्त करने के लिए हम क्या करें, इसे ही अगले सूत्र में समझाया गया है।

त्रिपदाद्यनुप्राणनम् ।। 38।।

जब तुर्य अथवा समाधि से उठें तब तुर्य के आनन्द को जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति में प्रविष्ट करें। ऐसा करने से ये तीनों अवस्थाएं भी तुर्य से एक हो जाएंगी एवं चारों स्थितियों में कोई भेद नहीं रह जाएगा।

रचनात्मकता की तीन स्थितियां हैं – सृष्टि, स्थिति एवं संहार (लय)। सृष्टि की स्थिति तब होती है जब तुम अपनी चेतना को किसी वस्तु की ओर अभिमुख करते हो (भावोन्मुख्य)। ''सृष्टि'' की स्थिति में चेतना को वस्तु की ओर अभी तक मोड़ा नहीं गया अपितु मोड़ने का प्रयास आरम्भ किया है। जब चेतना वस्तु की ओर स्थित हो जाती है (भावाभिष्वांग) तब यह ''स्थिति'' की अवस्था हो जाती है और जब तुम्हारी चेतना उस वस्तु से हट जाती है तथा अन्य वस्तु की ओर मुड़ जाती है तब यह ''लय'' की स्थिति होती है। अब जिस अन्य वस्तु की ओर चेतना की दिशा होती है उस वस्तु के सन्दर्भ में यह सृष्टि दशा होगी।

लेकिन ''लय'' दशा में तुम्हारा ध्यान दोनों में से किसी भी वस्तु की ओर नहीं है। तुम्हारा ध्यान इस संधिकाल में भीतरी चेतना की ओर चला गया है। **(अन्तर्मुखभाव)**

यदि तुम्हें कुछ पढ़ने की इच्छा है तब तुम्हारा ध्यान चश्मे को खोजने हेतु तत्पर होगा। यह सृष्टि की स्थिति है। चश्मा दिखते ही तुम उसे पहन कर पढ़ने के लिए तैयार हो जाते हो, यह ''स्थिति'' या संरक्षण है। तदन्तर तुम्हारा ध्यान चश्मे से हटकर किताब पढ़ने की ओर जैसे ही जाता है यह चश्मे के सन्दर्भ में लय की स्थिति है तथा किताब के सन्दर्भ में ''सृष्टि'' की । लेकिन लय की स्थिति में सृष्टि के पहले तुम्हारी चेतना भीतर ईश्वर चेतना की ओर मोड़ ली जाती है। यह शून्य की स्थिति है। संसार का अनुभव इसी तरह होता है। जंजीर की कड़ियों की तरह ये अनुभव एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। इस सन्दर्भ में हम बौद्ध दर्शन से पूर्णरूपेण सहमत हैं। बौद्ध दर्शन भी यही समझाता है कि ज्ञानपुंज का एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक चलते जाना ही अनुभव है।

इन तीनों स्थितियों के प्रत्येक बिन्दु पर पूर्णता से उपस्थित स्थिति तुर्य की है। तुर्य आनन्द से परिपूर्ण है तथा तीनों स्थितियों के चमत्कार का सुख भोगती है।

यद्यपि इन्द्रिय सुख माया से आच्छादित है तथापि भोग के आरम्भ में, मध्य में तथा अन्त में जब उत्सुकता शान्त हो जाती है, तुर्य का आनन्द क्षण भर को विद्युत की चमक की तरह प्रकट होता है। इस क्षण को कैसे पकड़ें? तुर्य के चमत्कार को कैसे बनाए रखें? इसे ही गुरु के मार्गदर्शन में सीखा जाता है।

जब तुम कोई प्रिय पकवान खाते हो तब उसका स्वाद लेते समय (यद्यपि यह स्वाद लेना माया के आधीन है) ईश्वर चेतना विद्युत की चमक की तरह प्रकट होती है। गुरुकृपा से तुम्हें यदि यह क्षण पकड़ने तथा बनाए रखने की क्षमता प्राप्त है तब तुम्हें ईश्वर चेतना में प्रवेश मिल जाता है। यह ईश्वर चेतना स्वाद के पहले क्षण से प्रकट होती है। इसे सहेजना न तो रोने से, न प्रार्थना से, न ही पूजा पाठ से सम्पन्न हो सकता है। बस गुरु ही तुम्हें वह कला सिखा सकते हैं।

अतः इन्द्रियों के माया के अधीन होने के बावजूद इन्द्रिय सुखों को भोगते समय क्षणभर के लिए ईश्वर चेतना विद्युत चमक की तरह प्रकट होती है। इन क्षणों में क्या करना चाहिए? गुरु समझाते हैं कि इन क्षणों में निरपेक्ष जागरुकता बनाए रखो अन्यथा वह क्षण तुरन्त खो जाता है और तुम साधारण व्यक्ति की तरह भोग से निवृत्त हो जाते हो। हालांकि ईश्वर चेतना क्षणभर को प्रकट होती है तुम्हें इसे जीवन्त करना होता है तथा जागरुकता से स्थिर करना होता है। ऐसा करने के लिए तुम्हें अपनी पूरी चेतना अन्तर्मुख कर उस क्षण को पकड़ना होता है क्योंकि अन्तर्मुख चेतना से ही तुम्हें सफलता मिलेगी। क्रमबद्ध, निरन्तर अन्तर्मुख जागरुकता से ही वह क्षण जीवन्त हो सकता है। ऐसे में तुम ईश्वर चेतना को पुनः बनाए रखते हो।

विज्ञान भैरव तन्त्र में कहा गया है – ''भैरव की शक्ति से युक्त भिन्नता के ज्ञान से परे तुम्हारे अपने ईश्वर चेतना के आनन्द को तुम्हें महसूस करना चाहिए। यह स्थिति जो पूर्णतः शुद्ध है तथा सार्वभौम चेतना से भरी है, सारी सृष्टि को आनन्द से भर देती है।'' **(विज्ञान भैरव तन्त्र 15)**

''भोग के चरम का आनन्द, ब्रह्म के आनन्द की ही अनुभूति है। यह आनन्द मात्र एक तरकीब, कला अथवा चतुराई से ही पाया जा सकता है अन्यथा यह मात्र दो पशुओं के मिलन से ज्यादा कुछ नहीं है।''

(विज्ञान भैरव तन्त्र 69)

''हे देवि! न केवल स्त्री–पुरुष के मिलन के सुख से तुम ईश्वर चेतना में प्रवेश पा सकते हो अपितु भोग की स्मृति के आनन्द से भी तुम ईश्वर चेतना में प्रवेश पा सकते हो ।'' **(विज्ञान भैरव तन्त्र 70)**

''यहां न केवल स्त्री–पुरुष के मिलन का सुख ही कारक है अपितु जागरुकता की कला सीख लेने पर बहुप्रतीक्षित वस्तु के मिलने के सुख के समय भी अन्तर्मुख जागरुकता बनाए रख कर ईश्वर चेतना में प्रवेश पाया जा सकता है।'' **(विज्ञान भैरव तन्त्र 71)**

उदाहरणार्थ – यदि किसी का पुत्र वर्षों से विदेश में हो और बिना सूचना के अचानक घर आ जाए तो जागरुकता की कला यदि तुममें हो तब उस क्षण के अतिरोमांचक सुख में भी तुम ईश्वर चेतना में प्रवेश पा सकते हो।

''स्वाद के सुख से भी यह संभव है। स्वादिष्ट भोजन अथवा पेय पदार्थ को भूख अथवा प्यास लगने पर ग्रहण करने का सुख भी सावधान साधक को ईश्वर चेतना में प्रविष्ट करा सकता है।''

(विज्ञान भैरव तन्त्र 72)

''इसी तरह कर्णप्रिय संगीत को सुनने के समय भी जागरुकता बनाए रख कर कोई साधक भैरव स्थिति को प्राप्त हो सकता है।'' **(विज्ञान भैरव तन्त्र 73)**

सारी सृष्टि तुम्हें ईश्वर चेतना की ओर ले जाने हेतु तत्पर है। यह सृष्टि तुम्हें नीचे गिराने के लिए नहीं अपितु तुम्हारा स्तर ऊपर उठाने के लिए है।

स्पन्दकारिका में कहा गया है – ''उन क्षणों में जब तुम पूरी तरह क्रोध के वश में हो या खुशी के अतिरेक में हो, दुविधा के चरम पर हो अथवा डर के मारे कांप रहे हो तब जागरुकता बनाए रख कर तुम सर्वोच्च चेतना की स्थिति प्राप्त कर सकते हो। **(स्पन्दकारिका 1:22)**

अर्थात् केवल सुख के अवसर पर ही नहीं अपितु घोर डर या दुःख के समय भी ईश्वर चेतना में प्रविष्ट होने का अवसर प्राप्त होता है।

जो सच्चा खिलाड़ी होता है वही सदा आवरणविहीन होता है। उसकी ईश्वर चेतना को कोई आवृत्त नहीं कर सकता है। वह सदा उपस्थित है। **(स्पन्दकारिका 1:25)**

आचार्य क्षेमराज ने स्पन्द निर्णय में इस बात को बेहतर ढंग से समझाया है।

आणवोपाय के 20वें सूत्र में कहा गया है कि चौथी (तुर्य की) स्थिति को फैलाना चाहिए ताकि वह अन्य तीन स्थितियों (जाग्रत–स्वप्न–सुषुप्ति) में ठीक उसी तरह व्याप जाए जैसे कागज अथवा कपड़े पर गिरा तैल पूरे धरातल पर फैल जाता है।

अब हम समझेंगे कि 20वें एवं 38वें सूत्र में क्या अन्तर है?

बीसवें सूत्र में चतुर्थ स्थिति को अन्य तीन में प्रविष्ट कराने की बात की गई है एवं अड़तीसवें सूत्र में कहा गया है कि तीन स्थितियों में चौथी अर्थात् तुर्य को जीवन्त करना चाहिए।

दोनों में मूलतः अन्तर है क्योंकि अड़तीसवें सूत्र में कहा गया है कि जागरुकता की कला के द्वारा दिनचर्या के प्रत्येक कार्य में तुर्य को जाग्रत करना चाहिए जो वहां है ही।

लेकिन योगी को इतने से ही संतुष्ट नहीं होना चाहिए अपितु इसके आगे भी कर्तव्य हैं जिन्हें अगले सूत्र में व्याख्यायित किया गया है –

चित्तस्थितिवच्छरीर करणबाह्येषु ।। 39।।

''ईश्वर चेतना को मात्र वहीं प्रवेश नहीं कराना है जहां मन एकाग्र हो गया है अपितु उसके शरीर, क्रिया एवं प्रमेय संसार में भी ईश्वर चेतना को प्रविष्ट कराना चाहिए।''

तुम्हें तुर्य को प्रमेय संसार में भी पाना चाहिए। तुर्य को तुम्हें सृष्टि की समस्त क्रियाओं में प्रविष्ट कराना चाहिए। जब व्यक्ति अन्तर्मुखी होकर स्थिर रूप से एकाग्र हो तो यही तुर्य की अवस्था है। इसी तरह जब चेतना की दिशा प्रमेय संसार की ओर बहिर्मुख होती है तब व्यक्ति को अपनी चेतना शरीर, संसार की क्रियाओं तथा संसार की वस्तुओं में स्थिर करना चाहिए तदन्तर उसे तुर्यावस्था भी इनमें स्थिर करना होती है।

विज्ञान भैरव तंत्र में यह कथन है कि – ''तुम्हें अपनी चेतना में यह जागरुकता लाना होती है कि सारी सृष्टि तथा तुम्हारा अपना शरीर आनन्द की अवस्था से भरा है और इस आनन्द से पिघल कर तुम सर्वोच्च आनन्द से एकसार हो जाते हो।'' **(विज्ञान भैरव तंत्र 65)**

इन अवस्थाओं के आरम्भ एवं मध्य में चेतना को प्रविष्ट करने से तुम आनन्दावस्था से एक हो जाते हो। तुममें एवं आनन्द में कोई अन्तर नहीं रह जाता है।

इस तरह जीवन के प्रत्येक स्तर पर स्वातंत्र्य शक्ति जो सर्वोच्च आनन्द से परिपूर्ण है, तुम्हारी हर इच्छा पूर्ण करती है।

इसके विरुद्ध जब भीतरी तुर्यावस्था सतत् बनाई नहीं रखी जाती तब शरीर, पुर्याष्टक प्राण एवं शून्य में अहंता रहती है और वह पूरी तरह अपूर्ण महसूस करता है तथा कामनाएं जाग जाती हैं।

अभिलाषाद्बहिर्गतिः संवाह्यस्य ।। 40।।

दुष्पूर एवं जिद्दी इच्छाओं द्वारा उत्पन्न अधूरेपन को पूरा करने में उसकी गति एवं कार्य बहिर्मुख हो जाते हैं तथा वह कर्मफल को ढोने वाला अर्थात् जीवन–मृत्यु के चक्र में पड़ जाता है।

यह योगी अपनी प्रकृति में एक खाई महसूस करता है। इस अधूरेपन के अहसास के कारण उसमें कामना का जन्म होता है और वह इस खाई को पाटना चाहता है। इस कामनापूर्ति के लिए उसका ध्यान संसार की ओर जाता है जिससे वह चेतना से दूर हो जाता है। इस तरह वह कर्मफल ढोने वाला चौपाया बन जाता है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह किन शक्तियों के आधीन हो जाता है? भलीभांति समझ लीजिए कि वह शक्तिचक्र की शक्तियों के आधीन हो जाता है और ये शक्तियां हैं माया एवं उसके पांच कंचुक (कला, विद्या, राग, काल और नियति) साथ ही अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार), पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच तन्मात्राएं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध)। इन शक्तियों के द्वारा ही वह एक गर्भ से दूसरे गर्भ तक पशु की भांति चलाया जाता है जहां वह अपने कर्मों के अनुरूप जीवन प्राप्त करता है। यह दुष्पूर, जिद्दी कामना ही मल है।

स्वच्छन्द तंत्र में उल्लेख है – ''स्वयं की आत्मा को अधूरा मानना अविद्या है और यही आवणमल है। इसी आणवमल के कारण अभिलाषा उत्पन्न होती है जिससे व्यक्ति संसार में धकेल दिया जाता है। इससे वह आंतरिक आध्यात्मिकता से दूर हो जाता है।'' **(स्वच्छन्द तंत्र)**

इस तरह उसकी चेतना सांसारिक सुखों की ओर मुड़ जाती है। वह भीतरी जागरुकता (अन्तर्मुखरूपता) बनाए नहीं रख पाता।

कालीक्रम शास्त्रमें कहा गया है – ''जब व्यक्ति में भिन्नता के ज्ञान (विकल्प) के कारण चेतना अज्ञान से आच्छादित हो जाती है तब वह पृथ्वी से शिव पर्यन्त सारी सृष्टि को ईश्वर चेतना से एक नहीं देख पाता।''

इस तरह वह अच्छे–बुरे, प्रिय–अप्रिय, भेदज्ञान का लक्ष्य हो जाता है तथा उसे मात्र दुःख का अनुभव होता है। सुख भी उसे मात्र दुःख का अनुभव देता है। इस प्रकार वह नर्क का कष्ट भोगता है। यह सब सीमित अहंता के कारण होता है।

जिस प्रकार बांस के पेड़ आपस में घर्षण कर स्वयं को अग्नि में भस्म कर लेते हैं, उसी तरह यह व्यक्ति स्वयं को नष्ट कर लेता है।

जो भ्रमों को अपने स्वभाव में शामिल कर लेते हैं और ज्ञान की कमी (मलों) में जीते हैं, आध्यात्म से दूर ही रहकर क्लेश और उदासी भोगते हैं। किन्तु जब ऐसे लोगों को शिव का अनुग्रह प्राप्त होता है तब वे स्वयं के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करते हुए कामनाओं से मुक्त हो जाते हैं।

तदारूढ़प्रमितेस्तत्क्षयाज्जीवसंक्षयः।। 41।।

तात्पर्य यह है कि जब योगी का चिन्तन स्वयं के वास्तविक स्वरूप पर स्थित हो जाता है तब अभिलाषाओं का अन्त हो जाता है। अभिलाषाओं के अन्त होने से उसका जीव भाव (सीमित प्रमातृता) नष्ट हो जाता है। यही शिवानुग्रह है।

उक्त वर्णित सूत्र में प्रथम शब्द तत् का अर्थ है वास्तविक स्वरूप। पिछले सूत्र में यह बताया गया था कि वास्तविक स्वरूप तुर्य की दशा है जो ज्ञाता की स्थिति है न कि ज्ञान अथवा ज्ञेय की। जब उसकी चेतना सर्वोच्च चेतना में स्थापित हो जाती है तब राग समाप्त हो जाता है। अभिलाषाओं एवं सीमित जीवभाव का अन्त हो जाता है।

जीव का मतलब है जब ''मैं यह शरीर हूं'' का भाव रहता है। यहां मन, बुद्धि, अहंकार में अहन्ता बनी रहती है। यही जीवभाव नष्ट होता है और योगी की चेतना चमक उठती है। कालिकाक्रमशास्त्रमें कहा गया है –

''स्वप्नावस्था में कई तरह के स्वप्न आते हैं लेकिन जागते ही सब लुप्त हो जाते हैं। इसी तरह जब अनुग्रहयुक्त योगी प्रमेय संसार को देखते हुए सोचता है – यह प्रमेय संसार नहीं मात्र मेरी ही चेतना है तब सतत् रूप से प्रमातृ चेतना पर ध्यान करने से वह प्रमातृ चेतना से एकसार हो जाता है।''

(कालिकाक्रम शास्त्र)

इस योगी के लिए यह कल्पना सत्य हो जाती है। यदि तुम सतत् जागरुकता के साथ मनन करो कि यह सृष्टि तुम्हारी चेतना है तब सतत् ध्यान करने से एक समय ऐसा आता है जब तुम ईश्वर चेतना से एकसार हो जाते हो।

जो है और जो नहीं है, उन सब स्थितियों का तिरस्कार करो तथा ईश्वर चेतना से एक होकर सारी कल्पनाओं को नष्ट कर दो तथा अपने भीतर चेतना में स्थित रहो।

जो योगी सदा अपनी चेतना में स्थित रहता है तथा समयचक्र को नष्ट करने के प्रति प्रतिबद्ध भी रहता है। ऐसा करने के लिए वह अपनी चेतना को समयहीन बिन्दु पर जागरुकता से स्थिर करता है और कुछ समय उपरान्त पाता है कि उसके लिए समय का अस्तित्व ही समाप्त हो गया है। यहां वह अन्तिम रूप से ईश्वर चेतना को निखार कर जीवनमुक्त हो जाता है। **(कालिकाक्रम शास्त्र)**

जब तुम्हारी चेतना समयहीन बिन्दु को पाने के प्रति कृतसंकल्प हो तो तुम कालग्रासैक तत्परः अर्थात् समयचक्र को नष्ट करने के प्रति निश्चयी कहे जाते हो। यह समयहीन बिन्दु कहां प्राप्त होता है? यह दो श्वासों के बीच में होता है, एक कदम एवं दूसरे कदम के मध्य में होता है, एक शब्द एवं दूसरे शब्द के अंतराल में होता है।

कालिकाक्रम के काव्य में एक शब्द आता है ''कैवल्यपदभाग'' इसका तात्पर्य है अन्तिम मुक्ति। यह योगी अब किसी के द्वारा चलाया नहीं जाता वरन् स्वयं इस योग्य हो जाता है कि औरों को एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक ले जा सके। अब प्रश्न यह उठ सकता है कि जब इस योगी का व्यक्तिगत अस्तित्व समाप्त हो गया है तब क्या तुरन्त ही उसे अपना शरीर नहीं छोड़ देना चाहिए? वास्तव में ईश्वर चेतना से एक होने के बाद भी हम पाते हैं कि वह अपने भौतिक शरीर में स्थित है, तो फिर हम कैसे कहें कि जो योगी व्यक्तिगत शरीर में स्थित है वह ईश्वर चेतना से एक हो गया है? वह सतत् शरीर की सीमाओं से बंधा है। वह शरीर के कष्टों को भी भोगता है। वह बीमार भी पड़ता है, वह खांसता भी है, वह बूढ़ा एवं अशक्त भी होता है। तब व्यक्तिगत सीमाओं में बंधे योगी को, ईश्वर चेतना से अंतिम रूप से, मुक्त कैसे कह सकते हो ? इसी शंका का समाधान अगले सूत्र में किया गया है।

भूतकंचुकीतदाविमुक्तो भूयः पतिसमः परः ।। 42।।

उसके लिए पंचमहाभूत मात्र आवरण हैं। इन आवरणों के साथ भी वह निरपेक्ष रूप से मुक्त अर्थात् शिवतुल्य है। वह योगी ''भूतकंचुकी'' कहा गया है अर्थात् पांच महाभूत जिसके आवरण हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वह अपने भौतिक शरीर को बाहरी तौर पर ही बनाए रखता है तथा भीतर ईश्वर चेतना से एकाकार है।

ईश्वर चेतना के दृष्टिकोण से वह योगी भौतिक शरीर से ऊपर है। शरीर में उसकी अहन्ता शेष नहीं रहती। वह यह कभी नहीं कहता कि 'वह शरीर है'। वह यही सोचता है कि यह शरीर मेरा आवरण है। इससे मेरा क्या सरोकार ? वह योगी जन्म मरण के भयानक दुष्चक्र से मुक्त (विमुक्तः) है। वह सर्वोच्च (परः) है। वह शिव की तरह (पतिसमः) है। शरीर त्यागने के पश्चात् वह शिव से एक हो जाता है।

इस सूत्र में शब्द ''तदा'' का अर्थ है ''जब समस्त कामनाएं समाप्त हो जाती हैं''। बस यहीं पर व्यक्तिगत स्थिति का अन्त है। यह तब ही होता है जब योगी की अहन्ता शरीर पर से समाप्त हो जाती है। ऐसा होने के बाद वह भूतकंचुकी कहलाता है अर्थात् पंच तत्वों से आवृत्त। वह जानता है कि इस आवरण को चाहे जब उतार सकता है। उस आवरण में उसकी अहन्ता नहीं होती। तात्पर्य यह कि वह पूरी तरह मुक्त है।

साधारण मनुष्य सोचता है यह शरीर ही तो मैं हूं लेकिन योगी यह जानता है कि यह शरीर वैसा ही मेरा आवरण है जैसे कम्बल अथवा कपड़े।

मैं बीमार हूं, मैं बूढ़ा हूं, ये सब शरीर की अहन्ता के वक्तव्य हैं। चेतना के स्तर पर मैं न कभी बीमार हो सकता हूं और न ही बूढ़ा।

उसे निर्वाण हो गया (निर्वाण अर्थात् अग्नि का शान्त हो जाना)। ईश्वर चेतना में प्रवेश करते ही वह पूर्ण, सर्वोच्च एवं संतुष्ट हो जाता है।

छब्बीसवें सूत्र (शरीरवृत्तिर्व्रतम्) में भी यही बात कही गई थी।

कुलरत्नमाला तन्त्र में कहा गया है – ''जब गुरु शिष्य को परम सत्य का उद्घाटन करता है, उसी क्षण शिष्य मुक्त हो जाता है। उसके लिए शेष जीवन यंत्रवत् होता है।

मुक्ति के बाद शरीर में वह ऐसे रहता है जैसे शरीर नहीं अपितु एक डब्बा अथवा मकान हो। वह सदा ईश्वर चेतना में लीन रहता है।

हम उस विद्वान पुरुष के बारे में क्या कह सकते हैं जो क्षणभर को भी ईश्वर चेतना में स्थिर हो गया हो। वह न केवल स्वयं ही मुक्त हो जाता है अपितु औरों की मुक्ति का साधन भी बन जाता है। नेत्र तंत्र में कहा गया है – ''पलक झपकने के समय से भी कहीं कम समय तक जिसने ईश्वर चेतना को अनुभूत कर लिया है वह मुक्त है तथा पुनः इस संसार में नहीं आता।'' **(नेत्रतन्त्र 8:8)**

कुलसार शास्त्रमें कहा गया है – ''हे सौन्दर्यमयी देवी! ईश्वर चेतना के सत्य की महानता एवं गौरव आश्चर्यजनक हैं। इस सत्य का शब्द रूप भी यदि एक कान में पड़ता है तो तुरन्त मुक्ति देता है।

बयालिसवें सूत्र में बताया गया है कि योगी कैसे पांच तत्वों से ढंका रहता है। ये आवरण अज्ञान के आवरण नहीं हैं। (अज्ञान के आवरण देहकंचुकाताद् – देह, प्राण, पुर्यष्टक तथा शून्य) । यहां पांच आवरण पांच महाभूतों के हैं। यहां यह आवरण का शरीर कर्मफल नहीं देता। क्यों? ऐसा क्यों नहीं होता कि बोध होते ही शरीर का पतन हो जाए। इस प्रश्न का उत्तर अगले सूत्र में दिया गया है –

नैसर्गिकः प्राणसंबन्धः ।। 43 ।।

तात्पर्य यह है कि श्वासों के साथ जुड़ाव योगी की प्रकृति है। जब वह ईश्वर चेतना से लौटता है तो नैसर्गिक रूप से वह श्वासों से जुड़ा रहता है। श्वासों के साथ ही वह अपनी शेष जीवन यात्रा जारी रखता है।

कल्लट ऋषि ने कहा है – ''प्राक्संवित प्राणे परिणता'' अर्थात् श्वासों के बीच ही ईश्वर चेतना का पहला परिवर्तन होता है और श्वासों को संभव बनाने के लिए शरीर का रहना जरूरी है।''

नैसर्गिक शब्द यह बतलाता है कि उसका श्वासों के साथ जुड़ाव स्वातंत्र्य शक्ति के कारण होता है क्योंकि यह देवी जब भी भिन्नता की सृष्टि का निर्माण करना चाहती है, स्वयं के अस्तित्व को सीमित करने के लिए ''प्रथम श्वास'' अर्थात् प्राण का रूप ग्रहण करती है। जब तक प्राण रहते हैं शरीर निर्जीव नहीं होता चाहे श्वास की गति थमी रहे।

गर्भ में भी शिशु को प्राण से ही अस्तित्व मिलता है। वहां श्वास अभी नहीं है, बस प्राण ही जीवन है। जीवन के प्रथम क्षण में स्वातंत्र्य शक्ति प्राण के रूप में अस्तित्व प्रदान करती है तथा जन्म के समय

प्राण से श्वास का अस्तित्व प्रकट होता है। प्राण ही श्वास का बीज है। यहां वह (स्वातंत्र्य शक्ति) सीमित जीव का रूप लेती है और तदन्तर प्रमेय संसार में भी प्रवेश करती है। स्वातंत्र्य के गौरव के आरम्भ में ही यह संबंध निर्मित हो जाता है।

वाजसनेही संहिता में कहा गया है – ''वह स्वातंत्र्य शक्ति सर्वत्र व्याप्त है। बिना किसी मल के सदा आनन्द में लीन। वही स्वातंत्र्य शक्ति शिव की समस्त शक्तियों की निर्माता है। यह सर्वोच्च शक्ति महाघोरेश्वरी, अज्ञानी के लिए महा डरावनी है लेकिन आनन्द में सिक्त ज्ञानी के लिए रचनात्मक है और यही सर्वोच्च स्वातंत्र्य शक्ति असावधान के लिए विनाशकारी है। इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना में तीन तरफ बहने वाले समय को महाघोरेश्वरी शक्ति नष्ट कर देती है। यह समय प्राण, अपान एवं समान में रहता है तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्य के रूप में अनुभव होता है।'' **(वाजसनेही संहिता)**

प्राण संचरण के तीन मार्ग हैं – इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना। व्यक्ति के मेरूदण्ड के भीतर इड़ा – चन्द्रमा के रूप में बाईं ओर स्थित होती हैं, पिंगला – सूर्य के रूप में दाहिनी ओर स्थित होती है तथा सुषुम्ना – अग्नि रूप में मध्य में स्थित होती है।

चन्द्र रूप	–	इड़ा प्रमेय की रचना करती है
सूर्य रूप	–	पिंगला प्रमाण की रचना करती है
अग्नि रूप	–	सुषुम्ना प्रमातृ की रचना करती है

शिव की यह शक्ति (जो उसकी चेतना से अलग कुछ नहीं है) श्वास मार्ग में तथा चन्द्र, सूर्य एवं अग्नि में प्रवेश कर समयचक्र का निर्माण भी करती है तथा उसे नष्ट भी करती है। यहां यह शक्ति तीनों नाड़ी मार्गों इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना को उठाकर (त्रिवहम्) तीनों सोम नाड़ी, सूर्य नाड़ी तथा वह्नि नाड़ी में प्रवेश करती है (त्रिविधम्)। अब तीनों समय भूत, वर्तमान एवं भविष्य को ढोते हुए (त्रिस्थम्) उन्हें नष्ट कर देती है। वह समय नष्ट कर देती है और समय का निर्माण भी करती है। अज्ञानी के लिए वह समय का निर्माण करती है तथा उच्च स्तरीय योगी के लिए वह समय को नष्ट कर देती है।

स्वच्छन्द तंत्र में कहा गया है – ''सर्वप्रथम वह प्राणमय हलचल में स्वयं को प्रकट करता है तदन्तर श्वास–प्रश्वास के रूप में श्वास बाहर निकालते समय सृष्टि रचना करता है तथा श्वास भीतर लेते समय सृष्टि का संहार करता है। यह श्वास क्रिया अस्तित्व के केन्द्र में रहती है।'' **(स्वच्छन्द तंत्र 7:25)**

यह दूसरी श्वास (प्राण) का प्रतिनिधि संस्कृत का अक्षर ''ह'' है (जो हल की आकृति में लिखा जाता है – शारदा लिपि) सृष्टि एवं संहार की जिम्मेदार यह श्वास गति ही है। **(स्वच्छन्द तंत्र 4:275)**

सूत्र में यही बात कही गई है कि प्राण से संबंध ही शिव की इच्छा है अतः नैसर्गिक है।

भट्ट कल्लट ने अपनी पुस्तक ''तत्वार्थ चिन्तामणि'' में कहा है – ''प्राण में प्रवेश सार्वभौम चेतना का पहला परिवर्तन है जो प्राकट्य की दिशा में आरंभिक कदम है।'' **(तत्वार्थ चिन्तामणि)**

अतः यह योगी साधारण व्यक्ति की तरह श्वांस लेता एवं छोड़ता है तथापि श्वांस लेते एवं छोड़ते समय सर्वोच्च चेतना के प्रति जागरुक रहता है। यह योगी साधारण व्यक्ति से एकदम अलग है।

नासिकान्तर्मध्यसंयमात् किमत्र सव्यापसव्यसौषुम्नेषु ।। 44।।

यदि उस योगी की चेतना सुषुम्ना नाड़ी में स्थिर होकर जीवनी शक्ति प्राण से एक हो जाती है तब वह हमेशा एक जैसा बना रहता है। उसके लिए प्राण, अपान अथवा सुषुम्ना की यात्रा में कोई अन्तर नहीं होता।

अगर उसकी चेतना जीवनी शक्ति (कुण्डलिनी) से जुड़ जाती है तब वह जीवन यात्रा कैसी करता है इससे उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। वह तीनों में किसी भी नाड़ी में प्रवेश करे सदा अपरिवर्तित रहता है।

वह साधारण व्यक्ति की तरह दक्षिण नाड़ी में प्रवेश कर श्वास ले सकता है अथवा वामनाड़ी में या मध्यनाड़ी में प्रवेश कर सकता है। ये तीन नाड़ियां (इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना) 72 हजार नाड़ियों में प्रमुख हैं।

जीवनीशक्ति प्राणन सर्वप्रथम ''चित्'' रूप में तदनन्तर ''स्पन्द'' रूप में एवं तीसरी बार ''प्राण'' के रूप में प्रकट होती है। प्राण–पुंज शरीर में संचरण करता है तो सूक्ष्म नलिकाओं अथवा नाड़ियों, जिनकी संख्या 72000 कही गई है, से होते हुए पूरे शरीर में व्याप जाता है। स्वच्छन्दतंत्र में इन नाड़ियों की तुलना चिनार वृक्ष की पत्तियों से की जाती है। चिनार की पत्ती में भी एक मध्यनाड़ी होती है जिससे हजारों छोटी–छोटी नलिकाएं निकलती हैं और पूरी पत्ती में व्याप्त हो जाती हैं।

इस सूत्र में नासिका से तात्पर्य है ''श्वास की शक्ति'' जो शरीर को जीवन देकर उसे लचीला बनाती है। जैसे ही प्राण शरीर से अलग होते हैं तो शरीर का लचीलापन समाप्त हो जाता है।

''जिस योगी की चेतना आंतरी संवित् के केन्द्र में स्थापित हो गई है उसके लिए मध्यप्राण के केन्द्र में सर्वोच्च स्वातंत्र्य शक्ति ही जागरुकता की शक्ति है साथ ही सर्वोच्च प्रज्ञा भी जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान एवं स्वप्रकाशित है।'' **(कालीक्रम)**

जब योगी अपनी चेतना को अस्तित्व की निरन्तरता में लगा देता है (तत् संयमात्) तब उसके विषय में क्या कहा जा सकता है? यह योगी सर्वोच्च समाधि में स्थिर होकर चमकने लगता है। उसके लिए बाहरी विभिन्नता का ज्ञान (व्युत्थानः) है ही नहीं।

विज्ञान भैरव में कहा गया है – ''सभी जीवों के लिए प्रमेय ज्ञान एवं प्रमातृ ज्ञान एक जैसा है सिवाय इसके कि योगी दोनों ज्ञानों के समय जागरुक रहता है।'' **(विज्ञान भैरव 106)**

यही योगी एवं साधारण मनुष्य में अन्तर है। इस योगी के लिए योग का क्या फल होता है? शिवसूत्र के अगले एवं अन्तिम सूत्र में इसे ही व्याख्यायित किया गया है –

भूयः स्यात्प्रतिमीलनम् ।। 45 ।।

यह योगी एक साथ प्रमेय संसार के सच्चे स्वरूप का प्राकट्य एवं तिरोभाव बार–बार अनुभव करता है। वह अनुभव करता है कि सारी भिन्नता समाप्त हो गई है तथा प्रमेय–प्रमातृ संसार में कोई भेद नहीं। सृष्टि उसकी स्वयं की सर्वोच्च चेतना का विकास है। चेतना के स्तर पर उतरते ही इस विश्वात्म स्वरूप के अनुभव पर ग्रहण लग जाता है (निमीलन)। तदन्तर बार–बार यह संसार उसकी सर्वोच्च चेतना से प्रकट होता है। यह बार–बार का नया एवं ताजा अनुभव सर्वोच्च मार्ग पर स्थापित प्रत्येक योगी को होता है।

स्वच्छन्द तंत्र में इसी तथ्य को बहुत अच्छे तरीके से समझाया गया है – ''हे देवि! उन्मना से परे भी एक स्थिति है जिस पर योगी को अपनी चेतना स्थिर करना चाहिए और जब वह पूरी तरह से उस स्थिति में स्थापित हो जाता है तब उस स्थिति से एक हो जाता है।'' **(स्वच्छन्द तंत्र 6:332)**

जब अग्नि काष्ठ से निकलकर शुद्ध एवं चमकीले स्वरूप में प्रकट होती है, तो फिर पुनः लकड़ी में प्रवेश नहीं करती। इसी तरह जब आत्मा भिन्नता के ज्ञान से स्वयं को अलग कर लेती है तो पुनः भिन्नता में प्रवेश नहीं करती। **(स्वच्छन्द तंत्र 10:371)**

''आणवमल, मायीयमल एवं कार्ममल को नष्ट कर पूर्णतः निर्मल हो चुका योगी इस मलयुक्त संसार में रहकर भी इस संसार से लिप्त नहीं होता।'' **(स्वच्छन्द तंत्र 10:372)**

इस सूत्र में ''भूयाः'' (बार बार) से तात्पर्य है कि वह संसार की चेतना बार–बार पाता है एवं वह पुनः लुप्त हो जाती है। उसे ऐसा अनुभव होता है कि संसार बार–बार स्व में प्रकट होता है तथा पुनः बाहर प्रकट होता है। शिवावस्था का यह अनुभव उसके लिए नया नहीं है क्योंकि यह उसका मूल स्वभाव है जो मलों के हटने से स्वयं प्रकट हो गया है।

माया के कारण ही मानसिक अक्षमता प्राप्त होती है। इसी अक्षमता के रहते भिन्नता का ज्ञान होता है और इसी कारण सार्वभौम चेतना पर व्यक्ति टिक नहीं पाता।

इस तरह स्वयं की चेतना से प्रकट सृष्टि को पुनः अपने में विलीन कर लेने के अभ्यास द्वारा तुम अस्तित्व के ''निरपेक्ष सत्य'' को जान लेते हो।

देह प्रमातृ = जाग्रतावस्था

पुर्याष्टक प्रमातृ = स्वप्नावस्था

प्राण प्रमातृ = सुषुप्तावस्था

निष्कर्ष

''शिवसूत्र'' अमृत कलश है। यह शास्त्र तीव्र जिज्ञासा से युक्त साधक को शिव–रहस्य का ज्ञान देकर अमरता का अवर्णनीय आनन्द उपलब्ध करवाता है। वहीं इसमें ऐसी क्षमता भी है कि व्यक्ति में जिज्ञासा उत्पन्न कर सके। शिवसूत्रों के अध्ययन से व्यक्ति की प्रज्ञा का विकास होकर प्रज्ञा को नया आयाम मिलता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, धनहानि आदि के दुःखों से मुक्त हो जाता है।

देह प्रमातृ के कारण साधारण व्यक्ति उस सार्वभौम चेतना के असीम आनन्द से दूर रहता है लेकिन जब शिवसूत्र वर्णित योग द्वारा उसका अज्ञान दूर होता है तब वह पाता है कि शिवचेतना के विशाल समुद्र में यह सृष्टि तो एक बुलबुला मात्र है। ऐसा योगी शिवतुल्य हो जाता है।

''शिवसूत्रों'' में परमेश्वर शिव ने स्वयं के मुख से स्वयं के अस्तित्व का वर्णन किया है। गुरुकृपा से यह शास्त्र तुरन्त ही साधक को भिन्नता के ज्ञान से उबार लेता है।

।। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।